माध्यम

सितंबर, १९६८

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

सितंबर, १९६८
वर्ष ५ : अंक ५
पूर्णांक : ५३

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता
पोस्ट बॉक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रबंध संपादक
रामप्रताप त्रिपाठी

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया पचीस पैसा
वार्षिक : बारह रुपया पचास पैसा

लेख

अहं और अहंवाद ४ गोविंद रजनीश
आधुनिकता और हिंदी कविता २३ विजयबहादुर सिंह
नया साहित्य : युग-बोध या युग-भ्रम ४३ प्रेम लाल भट्ट
केशव पाठक और उनका काव्य ५४ कान्तिकुमार

कविताएँ

चेकोस्लोवाकिया ३ प्रभाकर माचवे
दो चेहरे १२ नर्मदा प्रसाद खरे
दो कविताएँ १३ इब्राहीम 'शरीफ़'
दो कविताएँ १४ श्रीदिगम्बर झा
यदा वै बली भवति १७ पंकज

कहानियाँ

मौत १८ सरदेशाइ वेंकटरामय्या
मैं—तलाश-वाद ३१ पृथ्वीनाथ शास्त्री

हास्य-व्यंग्य

क़िस्सा एक दिलचस्प गवाह का ४९ रवीन्द्रनाथ त्यागी

विवेचना

आत्महत्या के विरुद्ध ६५ रमेशचन्द्र शाह

माध्यम

अंक ५४ में

- लेख :
  निदा फ़ाज़ली, जवाहर-लाल हंडू

- कविताएँ :
  स्व० उदयशंकर भट्ट, मणि मधुकर

- कहानियाँ :
  बटरोही, सुरेश वर्मा

- 'सहवर्ती साहित्य' : मराठी
  वि० स० खांडेकर की कहानी

- विवेचना :
  'आत्महत्या के विरुद्ध' (उत्तरार्ध)
  विवेचक : रमेशचन्द्र शाह

समीक्षाएँ

आधुनिक कवि : १३ ७६ विश्वम्भर 'मानव'
इतिहास पुरुष ७८ रामदरश मिश्र
पहिये के ऊपर ८० „ „
समय की धार ८१ नंदकुमार राय
जयघोष ८३ उमाकान्त मालवीय
स्फुलिंग ८४ „ „

●

आवरण-सज्जा : शिवगोविंद पांडेय

●

प्रभाकर माचवे

चेकोस्लोवाकिया : सोवियत सैनिक आक्रमण पर

प्राहा प्राहा प्राहा
स्वाहा......स्वाहा
ख़ूब समाजवाद निबाहा!

प्रतिक्रांति कह
लांछित करता
जनता की मुक्ति का उभरना
नया नहीं यह।
दुस्सह।
कर्ज़दार ने ख़ूब ख़ून से सूद उगाहा
...स्वाहा

कैरेल चैपेक
या हों दुबचेक......
सेना का नंगा प्रवेश
यों दास बनाना कोई देश
कैसे कोई चेक
सहेगा यह बर्बर अतिरेक
चाहा यों बनता जाता अनचाहा
...स्वाहा

●

१२०, रवींद्र नगर,
नयी दिल्ली।

गोविंद रजनीश

अहं और अहंवाद

पदार्थ में चेतन का प्रादुर्भाव गुणात्मक परिवर्तन से हुआ। चेतन में जिजीविषा का अहं उसी शक्ति का परिणाम है क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपने को विनाश से बचाने का प्रयत्न करता है। वह प्राणी के लिए सहज है। अनुवीक्षण यंत्र से देखे जाने वाले कीटाणु भी स्वरक्षा में लगे रहते हैं। स्व-रक्षा यानी जिजीविषा और संख्या-वर्द्धन यानी प्रजनन जड़ के चेतन होने के गुणात्मक परिवर्तन होने के समय के ही गुणात्मक परिवर्तन हैं। जिजीविषा और रिरिंसा का दूसरा नाम ही अहं है। यह नितांत निर्भर है—भौतिक पर। भौतिक का विकास ज्यों-ज्यों दुरूह होता जाता है, चेतन का विकास बढ़ता जाता है। चेतन का निरंतर विकास ही अहं का विकास है।

अहंवाद और भारतीय दर्शन

भारतीय दर्शन में अहंवाद की धारणा अत्यंत प्राचीन है। गीता में श्रीकृष्ण ने कई स्थलों पर अहं को अव्यवहार्य एवं त्याज्य माना है। लेकिन उन संदर्भों में अहं, अहंकार है जो दूषित मनोवृत्ति होने के कारण अशांतिदायक है। प्राचीन और मध्यकालीन संतों ने केवल उसी अहं को लिया जो व्यक्ति के लिए बाधा है। अर्थात यहाँ वह अहं है जो स्वस्थ प्रतियोगिता करता है। प्रकृति की विजय में मनुष्य को वह तृप्ति नहीं है जो जीवित प्राणियों से अपनी प्रशंसा प्राप्त करने में है। मध्यकालीन भारतीय संतों ने जब मनुष्य के अहंकार की निंदा की थी, तब वास्तव में वह भी समाज का उपकार करने की चेष्टा थी, कि व्यक्ति को दूसरों से द्वेष और गर्व नहीं करना चाहिए। पर संतों का दूसरा आधार आत्म-घृणा था, इसलिए लोक को उससे शक्ति नहीं मिली। आत्म-घृणा के कारण समूह और व्यक्ति का सच्चा तादात्म्य नहीं होता। धर्माचार में अहं के विनाश की जो साधनाएँ हुईं, उसका कारण यह भी था कि वहाँ अहं और इदं के अभेद में ही परम सत्ता की अनुभूति का विधान था। वस्तुतः यह अहं, मिथ्याभिमान है, आज का अहं नहीं।

गीतेतर भारतीय दर्शन में अहं का संबंध अव्यावहारिक, अविद्या से सीमित आत्मा से जोड़ दिया गया जो मैं और मेरे की भावना को उद्भूत करती है। दर्शन की दृष्टि से सारी सृष्टि में दो तत्व माने गये हैं—अहं (चेतन, विषयी, भोक्ता), इदं (विषय अर्थात संपूर्ण जगत)। कोई-कोई नैयायिक आत्मा के मन के साथ तादात्म्य होने पर 'अहमस्मि' (मैं हूँ) अहं, सब रूप

से शुद्ध चैतन्य रूप में उसका अनुभव बतलाते हैं, परंतु अन्य नैयायिक शुद्ध चैतन्य रूप को प्रत्यक्ष का अविषय बना कर 'मैं जानता हूँ', 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि परामर्श वाक्यों में प्रकटित, प्रत्येक ज्ञान में ज्ञाता रूप से आत्मा को प्रत्यक्षसिद्ध मानते हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार बुद्धि से अहंकार उद्भूत होता है। 'सब विषय मेरे लिए हैं', 'मैं ही कार्य करने का अधिकारी हूँ तथा समर्थ हूँ' आदि लोकानुभूति अहंकार के स्वरूप हैं। गुण-विषमता के कारण अहंकार तीन प्रकार का होता है—वैकृत (सात्विक), तैजस (राजस) और भूतादि (तामस)। अद्वैत दर्शन के अनुसार जीव की वृत्तियाँ उभयमुखी होती हैं। यदि वे बहिर्मुखी होती हैं तो विषयों को प्रकाशित करती हैं और जब वे अंतर्मुखी होती हैं, तो 'अहं' कर्ता को अभिव्यक्त करती हैं। ऐसी स्थिति में जीव की उपमा नृत्यशालास्थित दीपक से दी गयी है :

अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकीवृत्तिः।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीप साक्ष्यवभासकः॥

[जिस तरह रंग-स्थल में दीपक सूत्रधार, सभ्य एवं नर्तकी को समभाव से प्रकाशित करता है; और इनके अभाव में स्वतः प्रकाशित होता है, उसी तरह साक्षी आत्मा अहंकार, विषय तथा बुद्धि को अवभासित करता है इनके अभाव में स्वयं प्रद्योतित होता है।]

सांख्य दर्शन और अद्वैत दर्शन का दृष्टिकोण आधुनिक धारणा के अत्यधिक निकट है। जब व्यक्ति अंतर्मुखी हो जाता है तो अहं उद्भासित होने लगता है। यह भी सत्य है कि अहं, बुद्धि तत्व से उद्भूत है। मध्यकालीन संत काव्य में यही अहं, अहंवाद बन कर आया है। वहाँ अहं का अर्थ 'संतत्व' था, परंतु उसमें यह भावना सदैव थी कि ऐसा करने वाले वास्तव में अन्यों से ऊँचे और उद्धारक थे। गीता के कृष्ण में यह अहं था। ईसा में यही था—जब उसने कहा था कि 'अरे मूर्खो ! मैं कब तक तुम्हें बचाने आऊँगा ?' बुद्ध में यह अहं था जब वह धर्म प्रचार करने निकलते समय उपंक से मिल कर बोला था कि मैं सोयी हुई अंधी प्रजाओं को जगाने जाता हूँ। यह अहं गांधी में भी था—जब मलाबार पर्वत पर उसने जिन्ना से कहा था कि आओ, समझौता करो, करोड़ों हमारी ओर देख रहे हैं, और पूना में रेल रोक कर अंग्रेजी सेना ने उसे बंदी बनाया था तब उसने नैंग्लेफारसन से कहा था; जा कर दुनियाँ में कहना कि यह है ब्रिटिश वीरता कि वे अकेले निश्शस्त्र व्यक्ति को इस तरह चोरी से पकड़ सके हैं। इस सारे उद्धारवाद का मूल अहं है। इस अहं को जगाने के लिए ही महावीर ने अपने कानों में काठ ठुकवाया था।

यह अहं कुत्सित नहीं है कि उसका निराकरण किया जाय। अहं जिजीविषा और रिरंसा है। वह महापुरुषों में अत्यंत विकसित होता है। यह आगे भी महापुरुषों में रहेगा और इसीलिए मनुष्यों का पारस्परिक संघर्ष समाप्त नहीं होगा। उसका रूप भले ही बदल जाय। संपत्ति के समाजगत होने पर रूस में लोगों का अहं अधिकार के लिए लड़ता है। अधिकार की सीमा भी जब लघु बन जायगी तब यह अहं नये प्रकारांतर खोज लेगा, तब तक जब तक कि विकास-क्रम में यह चेतन ही अपना अधिक विकास नहीं कर जाता।

पाश्चात्य दर्शन, मनोविज्ञान एवं अहं की खोज

कला, साहित्य इत्यादि सौंदर्य की भावनाएँ, जो विज्ञान की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं, ये उसी अहं की अभिव्यक्तियाँ हैं। अहं का विकास ही अपना साधारणीकरण करता है। फ़ायड ने यौन-वासना को आधार माना था परंतु वह यौन-वासना मूलतः रिरिंसा है। उसी के अंतर्गत मार्क्स का समस्त वर्गवाद है। इन दोनों को ही प्रकारांतर से जिजीविषा कहा जा सकता है। फ़ायड ने अर्द्धसत्य रखा, मार्क्स ने उसे दूसरे दृष्टिकोण से देखा। मार्क्स ने इस जटिल चेतन के कार्य को बहुत सहज समझा था, उतना ही जितना उसका ज्ञात चेतन मात्र समझ सकता था। फ़ायड ने उपचेतन के केवल एक अंश 'काम-भावना' को समझने की चेष्टा की।

पाश्चात्य जगत में भौतिक तथा अन्य विज्ञानों के क्षेत्र में अभिनव विचारों का सूत्रपात हो रहा था तथा अन्वेषणों के फलस्वरूप बाह्य दृष्टिकोण भी परिवर्तित हो रहा था। उसी समय अहं की गवेषणा की गयी। मनुष्य की अंतर्भेदिनी दृष्टि जब अंतरिक्ष की पर्तों को खोल रही थी तब वह स्वयं अपने पर्यवलोकन में भी दत्तचित्त था। अहं की गवेषणा में फ़ायड का नाम अविस्मरणीय है।

एक बार एडगर एलेन पो ने अपने मित्र को पत्र लिखते हुए अहं का ख़ाका खींचा था और उसने मस्तिष्क के तीन भेद किये थे : १ विशुद्ध बौद्धिक, २. रुचिपूर्ण, ३. नैतिक भावना से पूर्ण। पो ने बताया था कि बौद्धिकता सत्य से संबंधित है। रुचि सौंदर्य की अनुभूति कराती है जब कि नैतिक भावना कर्तव्य की ओर प्रेरित कराती है।

लेकिन मस्तिष्क के ये भेद आज स्वीकार्य नहीं हैं। कॉलरिज ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है 'एक युवक के अहं (आई) को अपनत्व (मी) से जितना शीघ्र हो सके पृथक कर देना चाहिए। उस अवस्था तक पृथक करना चाहिए, जब तक कि वह पूर्णतया विलुप्त न हो जाय। 'मैं ही सब कुछ हूँ', केवल व्याकरण की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण नहीं है, अपितु बौद्धिक वर्ग वालों का यह सबसे बड़ा दोष है। केवल ईश्वर ही कह सकता है कि 'मैं ही समर्थ हूँ' या 'वह (नियंता) मैं ही हूँ।'

सन १८९० में फ़ायड हिस्टीरिया के बारे में खोज कर रहा था। उसे आश्चर्य हो रहा था कि सम्मोहन की अवस्था में रोगी किस प्रकार अपनी दुखद अनुभूतियों को अभिव्यक्त कर देता है जब कि चेतनावस्था में वे विस्मृत हो जाती हैं। तब उसने धारणा बनायी कि अनुभूतियाँ शूल की तरह मस्तिष्क के गुप्त भाग में गड़ी रहती हैं। इस आधार पर फ़ायड ने मस्तिष्क के दो भाग किये हैं : चेतन और उपचेतन। उपचेतन सपने देखने वाला ही दिमाग़ है। याज्ञवल्क्य ने उसको आत्मा कहा था। इसी उपचेतन में मनुष्य की दमित यौन-आकांक्षाएँ समा जाती हैं। यही योगी का चिंत्य होता है। वह उस पर क़ाबू रखता है। सम्मोहक भी उसी पर क़ाबू रखता है।

ज्ञात चेतन में स्मरण-शक्ति है, नियोजन-शक्ति है, विवेक शक्ति है। परंतु उपचेतन चेतना का और भी दुरूह और उलझा हुआ स्वरूप है, जिसमें ज्ञात चेतन का सारा मानवी लघु संसार, बाह्य विराट संसार को छान कर जो प्रतिबिंब लेता है, वह सब तो उतरता ही है, ज्ञात चेतन की जिजीविषा—उसका अहं—उसकी रिरिंसा, उसके अहं का प्रसार, यह सब उसमें

सन्निहित रहता है। उपचेतन में व्यक्तित्व के विकास की असाधारण संभावनाएँ हैं; क्योंकि वह पदार्थ का बहुत ही दुरूह और उन्नत चेतन स्वरूप है।

फ़ायड के अनुसार सामान्य वयस्क व्यवितत्व इड (इदम्) अहं, उच्चतर अहं से मिल कर बना है। अहं से फ़ायड का तात्पर्य उस अहं चेतना से है जो विचार, निर्णय, अनुभव और संकल्प करती है। यह वही भाग है जो मौलिक यथार्थ को ध्यान में रख कर ही तदनुरूप व्यक्ति के व्यवहारों को सर्वाधिक तुष्टि की दिशा में निर्दिष्ट करता है। इस प्रकार अहं 'इड' की इच्छाओं तथा यथार्थ की अनिवार्यताओं में ताल-मेल स्थापित करता है। यह अपने व्यवहारों के परिणामों से अवगत होता है और यथाशक्ति व्यक्ति और परिवेश में संतुलन बनाये रखने का प्रयास करता है। इसका अनैतिकता, पश्चाताप, अपराध-भावना से संबंध नही होता। ये भावनाएँ 'सुपर ईगो' या उच्चतर अहं से प्रारंभ होती हैं। उच्चतर अहं व्यक्ति की सामाजीकरण करने वाली प्रमुख शक्ति है। संस्कृति, नैतिकता और आदर्शों द्वारा परिवर्तित एवं संवर्धित वंशानुगत नैतिक प्रवृत्ति द्वारा इसका निर्माण होता है। उच्चतर अहं, आंशिक रूप से चेतन में होता है और मुख्यतः अचेतन में।

यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि मन का यह विभाजन भारत में प्राचीन काल से चला आ रहा है। हमारे यहाँ समाधि अवस्था दो प्रकार की मानी गयी है--सविकल्प, निर्विकल्प। सविकल्प में चेतन प्रबुद्ध रहता है जब कि निर्विकल्पावस्था में चेतन तथा उपचेतन दोनों का दमन किया जाता है। यही अवस्था संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात में होती है।

फ़ायड के बाद जार्ज ग्रोडैक की अहं संबंधी धारणाएँ चिंतनसापेक्ष हैं। ग्रोडैक का रोग संबंधी दृष्टिकोण आध्यात्मिक था। उसने रहस्यवादी संप्रदाय से प्राप्य 'मोक्ष' शब्द की विचार-पद्धति को व्यवहृत किया। उसने अहं को 'दि इट' या इदम् के नाम से अभिहित किया। उसने कहा है--'वैयक्तिक प्राणी का सारभूत; शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक तथा अन्य शक्तियों सहित सूक्ष्म संसार तथा अंतरिक्ष, जो कि एक मानव है, मैं उसके अहं को अज्ञात तथा शाश्वत अविदित मानता हूँ और इसको 'दि इट' के नाम से संबोधित करता हूँ।'

ग्रोडैक के अनुसार--'इदम् का तात्पर्य सत्य से नहीं है, क्योंकि पूर्ण सत्य के बारे में किसी को ज्ञान नहीं है।. . .मेरा विचार है कि मनुष्य 'इट' के द्वारा ही चेतन है। 'इट' ही निर्देश करता है कि वह क्या करता है और क्या करने की अवस्था में है। 'मैं जीवित हूँ', यह निश्चित घोषणा संपूर्ण अनुभूति, 'मैं इट द्वारा जीवित हूँ' की केवल एक तुच्छ और छिछली अभिव्यक्ति मात्र है।'

फ़ायड के अनुसार अहं सार्वभौम है। अहं उसके लिए एक संदूक के समान था जिसमें अभिनव गवेषणा के सामने आते ही फ़ायड की प्रतिभा वर्ग तथा उपवर्गों में बँट जाती थी। ग्रोडैक ने अहं को केवल मुखौटा माना है जो कि छल कर प्राणि मात्र को इस बारे में सोचने के लिए विवश कर देता है कि उसकी वर्तमान अवस्था के प्रति वह स्वयं उत्तरदायी है।

इस बारे में ध्यान देने योग्य बात यह है कि ग्रोडैक की स्थापना और उपलब्धि अभिनव नहीं है। जिस अनुभूति-प्रक्रिया के दौर से वह गुज़रा है, उसे भारतीय दर्शन ने बहुत समय पूर्व पा

लिया था। ग्रोडैक ने इदम् पर बल दिया था। भारतीय दर्शन में भाव-वादी पहुँच अहम् की प्रधानता तक रही है तो भौतिकवादी पहुँच इदम् की प्रधाना तक।

फ़ायड की धारणा का पुनर्वीक्षण करने वाले एल्फ़्रेड एडलर का सिद्धांत भी अहंवादी है। अहंवादी धारणा का प्रभाव अस्तित्ववादी चिंतकों और दार्शनिकों पर पड़ा। नीत्शे का दर्शन अहंवादी ही है जहाँ वह कहता है कि ईसाई वर्ग का नीतिशास्त्र, दास वर्ग का नीतिशास्त्र है, शासकों का नहीं। शासक, शक्तिशाली , दुर्दमनीय और प्रचंड होता है, जो समाज को अपने विकास के लिए प्रयुक्त करता है। अस्तित्ववादी धारणा से अहंवाद अधिक प्रबल तथा सशक्त हुआ।

साहित्य अहं तथा अहंवाद

मनोविश्लेषणकारी तथ्यों से प्रभावित हो कर अहं की धारणा बहुत कुछ परिवर्तित हो गयी। यह परिवर्तित रूप मेसफ़ील्ड के 'रेयनार्ड दि फ़ॉक्स', गाल्सवर्दी के 'इन चैंसरी', डी० एच० लारेंस के 'वीमन इन लव', कैथराइन मैंसफ़ील्ड के 'ब्लिस' में देखा जा सकता है। हॉपकिन, विल्फ़्रेड ओवेन, डेला मेर के काव्य में इसी अहंवाद की प्रतिच्छाया हैं। जेम्स ज्वॉयस के 'यूलिसेज़' में तथा वर्जीनिया वुल्फ़ के 'जेकब्स' में भी इसका रूप है। यहाँ तक कि डी० एच० लारेंस के अन्य उपन्यासों में यही परिवर्तित अहंवाद है। तभी उसने एक स्थल पर कहा था 'मेरे उपन्यासों में आपको पुरानी अहम् वृत्ति नहीं खोजनी चाहिए। उनमें अन्य प्रकार की अहम् वृत्ति है, जिसके वैयक्तिक कार्य अज्ञात हैं। उसको व्यवहृत करने के लिए गहन प्रतिभा का होना अनिवार्य है।'

दॉस्तॉ-ए-वस्की की कृतियों में भी अहं का यही परंपरागत स्वरूप मिलता है, जिस पर मनोविश्लेषणकारी धारणा का प्रभाव है। उसका कथन था—'क्या तुम जानते हो कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो मैं दो भागों में फट गया हूँ. . . इनमें एक विचारवान है, विवेकी है; लेकिन दूसरा भाग अयुक्तियुक्त कार्य करने के लिए विवश करता है।'

फ़ायड के अहंवाद ने व्यापक रूप से साहित्य को अतिक्रांत किया। कहीं 'स्व' प्रबल हुआ, कहीं 'पर'। सन १९१४ में फ़ायड से प्रभावित अभिनव अहंवाद का सूत्रपात हुआ, जिसने ज्योर्जियन परंपरा को पूर्णतया लुप्त कर दिया। एजरा पाउंड तथा इलियट ने सर्वप्रथम दीवारों को तोड़ा। अच्छे कवि न होते हुए भी एर्डलिंग्टन तथा फ़्लिट ने उन्हें सहयोग दिया। इलियट और ऑडेन की उत्तरार्द्ध की कविताएँ फ़ायड के अहंवादी दृष्टिकोण से प्रभावित हैं। 'वेस्टलैंड' में अहं और इदम् दोनों को इलियट ने प्रमुखता दी है :

तब हम चलें, तुम और मैं
जब संध्या पड़ी हो निढाल पृष्ठभूमि में आकाश के
बीमार की तरह
टेबिल पर 'ईथर' से अचेत।

यदि इस युग के कलाकार अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण करने लगे और यह स्वीकारें कि उद्देश्य केवल आकांक्षाहीन अवस्था तक पहुँचने के लिए एक आकांक्षा है और अहं से परे जाने

के लिए इच्छा मात्र है तो कला आध्यात्मिक हो जायगी या पूर्णतया मृत हो जायगी। यह सुनिश्चित है कि वह नव्य रूप में परिणत हो जायगी। संतोष इस बात का है कि पश्चिम की कला अभी तक अहं तथा व्यक्तित्व पर आधारित है। लेकिन दार्शनिक और वैज्ञानिक अन्वेषणों के फलस्वरूप अहं छितर गया था तथा खंडित हो गया था। टी० एस० इलियट ने उसे पुनर्गठित करने तथा उसे नया रूप, नयी सज्जा, नया मूल्य प्रदान करने के लिए अनुभूति की। यद्यपि स्टीफ़ेन स्पेंडर इसकी पहले ही अनुभूति कर चुका था :

मैं कभी नहीं हो सकता महान।
दुर्बलताएँ हैं इस विख्यात महान में
मित्रों के बीच दुर्बलताओं के लिए विशिष्ट है जो
भोजन के समय उसका चिड़चिड़ापन
उसकी घृणा प्रत्याख्यात होने के प्रति
मित्रों की परिधि से उठ
संश्लिष्ट आत्म-प्राप्ति की
अपनी एकमात्र वास्तव अभिलाषा को भूल कर।
केंद्रमान 'मैं' को घेरे हैं :
'भोजन करता मैं', 'प्रेम करता मैं', 'क्रुद्ध मैं', 'शौच-उद्यत मैं'
और उसमें रोपित 'विराट मैं' का
इन सबसे कोई संबंध नहीं।

'कामायनी' का मनोवैज्ञानिक आधार भी फ़ायड की मान्यताओं से अनुप्रेरित है। कामायनी का मनु या मन, अहं का प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि मन के चेतन और अचेतन अंगों में अहं आंशिक रूप में विद्यमान रहता है। कामायनी की इडा (बुद्धि) इड या इदम् का प्रतिनिधित्व करती है तथा श्रद्धा उच्चतर अहं का या निर्णयात्मक बुद्धि का। सांख्य दर्शन के अनुसार बुद्धि से अहंकार का उद्भव होता है वैसे ही मनु (मन) का संसर्ग इड़ा (बुद्धि) से होने पर अहंकार उद्भूत होता है जिससे वह इड़ा पर आधिपत्य का व्यभिचार करना चाहता है। श्रद्धा (सुपर ईगो) उसे सत्पथ पर लाती है। दूसरे स्थल पर असत् पक्ष के आकुलि-किरात के नियमन से मनु भटकते हैं और अधिकार, ऐश्वर्य, सुख, ईर्ष्या की भावना प्रबल हो उठती है।

यही दॉस्तॉ-ए-वस्की का दूसरा अविवेकी पक्ष है और गीता में श्रीकृष्ण द्वारा कथित अहंकार की वृत्ति। यही रावण, चंगेज खाँ, हिटलर, नेपोलियन और माओ-त्से-तुंग की बलवती लालसा है।

पाश्चात्य काव्य और दर्शन से अनुप्राणित हो कर हिंदी की नयी कविता में अहंवादी प्रवृत्तियाँ बड़े वेग से व्यक्त हुई हैं। इसके परिप्रेक्ष्य में पाश्चात्य परिस्थितियाँ कार्य कर रही थीं। वैज्ञानिक आविष्कारों और बौद्धिकता के फलस्वरूप तार्किक शक्ति प्रबल हुई। तार्किक शक्ति

ने द्वंद्व और अनैतिकता को जन्म दिया। ईश्वरीय अनास्था और नैतिक बंधनों के शैथिल्य ने अहं के परिष्कार को आधार-भूमि प्रदान की। मानव-मूल्यों के विघटन से खंडित व्यक्तित्व अहं का आश्रय पा कर अनेक रूपों में मुखर हुआ। व्यक्तिवाद और स्वच्छंदतावाद उसी के रूप थे। मनोविज्ञान का आश्रय पा कर अहं की भावभूमि और भी विस्तृत हो गयी।

'तार सप्तक' के संकलनकर्ता, कवि और भूमिका-लेखक अज्ञेय ने 'तार सप्तक' में अपने अहं को स्वीकारा है। यह भी घोषित किया कि 'तार सप्तक' के सभी कवि अहं के प्रति निष्ठावान थे। यह प्रवृत्ति 'तार सप्तक' के अन्य कवियों के काव्य में तो उतनी परिलक्षित नहीं होती है, परंतु अज्ञेय के काव्य में अवश्य है। क्योंकि अज्ञेय हिंदी का ऐसा गद्य लेखक और कवि है जिसने पाश्चात्य साहित्य से बहुत कुछ लिया है।

'इत्यलम्' में अज्ञेय स्वानुभूति के तथ्य और आत्म-सजगता के प्रति सचेतन रहा है। तभी वह वंचना के दायी आततायियों को ललकारता है तो कभी व्यक्तिवादी अहं की अपेक्षा सामाजिक अहं को अधिक श्रेयकर समझता है। कभी उसका भटकता अहं मनोज्ञ हो उठता है, तब उसका अहं जनकल्याण की ओर अभिमुख हो जाता है। वह दीपवत बहता हुआ आलोक-विस्तार करने को तैयार हो जाता है। अज्ञेय के अतिरिक्त प्रभाकर माचवे, विजयदेवनारायण साही और सर्वेश्वर में कहीं-कहीं अहंवाद का स्वरूप मिलता है।

नये कवि में अहं का आविर्भाव आत्मविश्वास के फलस्वरूप होता है। यह अहं कल्याणकारी है। कुंठाग्रस्त, मिथ्या या ह्रासोन्मुख नहीं है। इसमें कवि का आत्म-विश्वास, आत्म-शक्ति, आत्म-चेतना और आत्म-दृष्टि सजग हो कर मुखरित होती है। मानवता को विसर्जन, उदात्त-भावना तथा चेतना का परिचायक है। कवि की ऊर्ध्वोन्मुखी अहं चेतना उसे स्वस्थ समाजोन्मुखता की ओर प्रेरित करती है।

अहं अपनी कतिपय विशिष्टताओं के कारण ग्राह्य है। नयी कविता में उसका प्रादुर्भाव नवचेतना, नव आयामों, परिवेश की स्थापना में सहायक बन कर आया है। मानवीय संवेदनाओं को जागरूक बनाये रखने, प्रज्ञा के सचेतन में, व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा में अहं अनिवार्य तत्त्व के रूप में कार्य करता है। अहं का सत्य ही आत्मानुभूति का सत्य है। उसकी अनुभूति प्रज्ञा की अनुभूति है।

प्रत्येक सजग कलाकार अपनी आस्था, आत्मविश्वास, स्वाभिमान की रक्षा के लिए अहं का आश्रय लेता है। सत्य के अन्वेषण में भी अहं का जागरूक रहना अनिवार्य है। यह निश्चित है कि कलाकार या कवि में जब अहं निष्क्रिय होता है तो उसका कृतित्व भी कुंठाग्रस्त, सविकार तथा ह्रासोन्मुख होता है। यदि कवि का अहं कुंठित है या अन्य कारणों से उसमें गत्यवरोध आ गया है तो सर्जन-शक्ति में भी आत्मोपलब्धि की क्षमता न होने से उसका सर्जन कच्चे घरौंदे से बढ़ कर नहीं होगा। कवि को आत्मोपलब्धि का साक्षात्कार अहं के माध्यम से हो सकता है। इसके लिए कवि को स्वतंत्र और निर्द्वंद्व होना आवश्यक है।

सर्जन-शक्ति में कलात्मक पक्ष की भी अपनी गरिमा होती है। कलात्मक पक्ष की अभिव्यक्ति, सर्जक की आत्म-चेतना, आत्म-संवेदन और वैयक्तिक अभिरुचि पर निर्भर होती है।

यह अभिरुचि अहं की प्रबुद्ध चेतना पर आवारित होती है। अतः इस दृष्टि से भी अहं का अस्तित्व सर्जक के लिए अनिवार्य हो जाता है।

अहं तभी विसंगतिपूर्ण होता है, जब वह कुत्सित, असमाजोन्मुख और विरूप होता है। विसंगतियाँ तभी उठती हैं, जब कि इदम् और अहं में परस्पर घोर विरोध होता है। स्वस्थ स्थिति में इन दोनों का संतुलन बना रहता है। वैसे कुछ अहं की व्याख्या स्वार्थमूलक आक्रमकता से करते हैं।

वस्तुतः ऐसा नहीं है, क्योंकि मनुष्य अपने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा अहं के माध्यम से करता है। इसमें बाधाएँ उसको उद्वेलित कर देती हैं, जिससे वह विद्रोही हो जाता है। आज की भूखी पीढ़ी, दिगंबर पीढ़ी और बीटनिकों का फ़लसफा इसी तथ्य पर आधारित है।

बुद्धिमान का अहं बहुत सजग होता है। कार्ल मार्क्स ने उस अहं को नहीं देखा था। उसने सोचा था कि संपत्ति के कारण अहं है। वह नहीं समझा कि अहं का एक रूप संपत्ति ही है। बुद्धि और समाज-व्यवस्था, दोनों का संतुलन सदैव चला हो, सो बात नहीं। मानव-समाज में विभिन्न स्तरों पर बुद्धि मिलती है। संपत्ति जब नहीं थी, तब भी अहं था, पर कम था। वह धीरे-धीरे विकसित हुआ है। अहं का विकास जिजीविषा और रिरिंसा का विकास है। उसे निरंतर विकसित और व्यापक बनाने में ही लोक-कल्याण है। अधिकार की तृष्णा उसी का रूप है। मनुष्य में जीवित रहने की लालसा अन्य प्राणियों की तुलना में बलवती है, तभी तो वह इतने सशक्त रूप में सभी प्राणियों पर छाया हुआ है। उस अहं का व्यक्ति रूप दूसरों के लिए यदि घातक है, तो उसे व्यापक बनाना मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक है, क्योंकि इसमें वह अपनी योनि को दीर्घकाल तक सुरक्षित रख सकता है।

—हिंदी विभाग,
राजकीय कॉलेज,
करौली (राजस्थान)

दो चेहरे

नर्मदा प्रसाद खरे

१

हम अति प्रगतिशील
पैरों से चलने का काम नहीं लेते अब।
नये-नये पंख लगा हवा में ही उड़ते—
हवा में ही बड़े-बड़े महल बनाते
और पैरों को मस्तक पर धारण कर
चंदन चढ़ाते,
कहता है कोई जब—"भैरवी सुनाओ तो"
झट मल्हार गाते।

२

जीते जी कवि और कलाकार,
नित्य के अभावों के पाता है बड़े-बड़े पुरस्कार!
हम न उसे देते उसका ही पावना—
श्रद्धा के चार फूल!
मरने पर करते शोक-सभा, कीर्ति-गान।
आगे फिर जयंती मनाते हैं—
परम सुख पाते हैं।

●

१८४, शहीद स्मारक पथ,
जबलपुर।

इब्राहीम 'शरीफ़'

दो कविताएँ

१

नदी मेरी थी सूखी,
बाढ़ उसमें आ गयी है!
किसी ने एक दिन मुझसे कहा था—
तीन युग पहले
इसी भाँति
उमड़ आयी थी पगली बाढ़,
उसमें अनगिनत
घर-बार, सूखे ठूँठ औ' पौधे
बहे आये थे;
जाने कौन पौधा
तीर पर आ रुक गया था,
आज फलता-फूलता
एक पेड़ बन कर वह खड़ा है!

आज भी वह आ गये हैं
इस नदी में
दूर के लाखों अमर पौधे,
बहे आये हैं...!
इनमें से कोई एक
कूल पर गढ़ जायगा,
बढ़ कर फलेगा,
फूल कर खिल-खिल पड़ेगा;
एक दिन यह कूल सारा
वृक्ष-पाँतों से
खचाखच भर उठेगा!

२

चिलचिलाती धूप
चारों ओर छायी है
निरी निस्तब्धता;
कोई एक दिलजला पक्षी
अचानक चीख कर
इस ओर से उस ओर
नभ को चीरता-सा भागता है;
मैं अकेला
पेड़ के नीचे
घिरा बैठा हूँ अपने भेड़-बकरों से;
अभी कुछ देर के पश्चात
शीतल शाम होगी,
भेड़-बकरों को
चराता, हाँकता
मैं घर चलूँगा!

●

हंसराज कॉलेज छात्रावास,
दिल्ली—७।

दो कविताएँ

श्रीदिगम्बर झा

ओ साहित्य देवता

ओ साहित्य देवता !
मैंने तुम्हारे लिए रस-भीने, भाव-भरे
बलिपंथी, अनेक गीत रचे,
किंतु वे समाचारपत्रों की 'प्रचार-निर्दयता में' खो गये,
तुम तक न पहुँच सके !
फिर मैंने प्राण-शक्ति उत्सर्ग कर
तुम्हें ज़ोरों, बहुत ज़ोरों से पुकारा,
किंतु निर्जन पहाड़ी तलहटियों से
टकरा कर प्रतिध्वनि लौट आयी,
क्योंकि मेरी आवाज़ 'आकाश और आयु ने'
तुम तक न पहुँचने दी !
और अब मेरे हृदय की धड़कनें बंद होना चाहती हैं
मेरे प्राणों का स्पंदन रुकना चाहता है;
किंतु तब भी मैं तुम्हें आवाज़ दे रहा हूँ
जो सीधी मेरी आत्मा की अनंत गहराइयों से
निकल रही हैं,
मैं जानता हूँ इस आवाज़ की शक्ति-गति धीमी है
किंतु यह अप्रतिहत, निर्बंध और निर्बाध है !
और इस आवाज़ को अब कोई नहीं रोक सकेगा
क्योंकि यह आत्मा के गीत हैं,
और मेरी आत्मा और तुम्हारी आत्माएँ एक हैं।

आशा और आस्था की दीपशिखा

विधाता की इस नयनहारी सृष्टि में
जाने-अजाने जो अनंत फूल विकसित हैं
उनमें मेरे प्राणों का ही व्याप्त सुवास है
उनमें मेरी आत्मा का ही छाया उल्लास है।
उसी कारण धरती यह प्यार से विहँसी है।

विस्तृत व्यापक नीलाकाश में उड्डीयमान
नाना रूप-रंगों के विहग कलरव में
मेरी आत्मा की स्वतंत्रता ही गतिमान है।
जिन्हें आकाश का वक्ष चीरना आता है,
जिन्हें आकाश से धरती को देखना भाता है!

मखमली परिधान से सजी
श्यामांचला पृथिवी की मुखरित छाती पर
झूम रहे भाँति-भाँति के शस्यों की बालियों में
मेरा जीवन और मेरे प्रयत्नों का विश्वास ही हिलोरें ले रहा है।
जिसके दीप्त-उन्नत भाल से स्वर्ग लजा रहा है।

संपूर्ण चराचर के अवकाश में प्रवाहित प्रभंजन
मेरे ही निःश्वासों का वाहक है।
जो प्रेम के वायुमंडल में प्राणदायी शीतल
और घृणा के वातावरण में नितांत दाहक है।

अंधकार का प्रबलतम शत्रु, प्राणों की ऊष्मा का प्रतीक
यह मनहर सूरज––मेरे संकल्पों का प्रतिष्ठान
मेरी आस्था की ज्योतिशिखा, और मेरे
विश्वासों का हविर्भुज है।
जो मेरी वैयक्तिक स्वतंत्रता का मुक्त छंद
और मेरी स्वच्छंदता का जय ध्वज है।

वासंतिक बयार की मधुरता
और विरही प्राणों की व्याकुलता की कसौटी

यह निर्मल कोमल चंद्रिका
मेरी अंतरात्मा का ही निर्बाध स्नेह-स्रोत है!
जिसके बिना विधाता की यह सृष्टि
अनुर्वरा होती और संसार मरघट होता!
इस तरह विधाता की इस विशाल, व्यापक रचना में
जो कौशल दिखायी पड़ता है
वह मेरी ही चित्तवृत्ति की प्रतिकृति है।
मेरे अपने समान ही जो अनंत प्राणी हैं
उनमें मेरी आत्मा का ही प्रतिबिंब निहित है।
जो कुछ सुंदर, सुखद, शांतदायी है
वह मेरे अंतर की ही अभिव्यक्ति है!

किंतु ठहरो, रुको...
विधाता के इस निर्मम, निष्करुण जगत में
जो शोषण, दमन, अन्याय और उत्पीड़न है
वह निर्माता का नहीं, बल्कि मेरे ही प्रतिरूपों का
जघन्य अत्याचार है।
जो कुछ विरूप है, सत्य, शिव, सुंदर का शत्रु है
वह मेरा ही शत्रु है।
इसलिए मित्र! इस घृण्य कुरूपता की
चिता प्रज्वलित करो।
ताकि मानवता, स्वतंत्रता और आस्तिकता की
त्रिपथगा निरंतर बहती रहे।
हमारे और अनंत प्राणियों के कलंक-पाप धोती रहे।
आशा और आस्था की दीपशिखा अनंत काल तक जलती रहे।

●

निकट : बिहार सर्वोदय मंडल,
कदम कुआँ, पटना–३।

पंकज

यदा वै बली भवति

रक्तिम - आवेश - उद्दीप्त - भुज - वल्लरियाँ,
सिहर रहीं स्फुर - स्फुर,
प्रसरित करो, अरे, विस्तृत करो,
अपनी चेतना का वक्षःस्थल।
यह विकल्प नहीं अनिवार्यता है।
गुंजलकों में,
कुनमुनाहट मात्र,
चैतन्य नहीं है।
समूचे व्यक्तित्व को मुखरित करो,
हर्षोन्मादित कर दो,
प्राणानुप्राणित कर दो,
रग - रग, अणु - अणु,
नृत्यावेशित,
चपलतम गतिबद्ध।
सभी कुछ मंथनापेक्ष है,
'सु - मेरु' में 'शेष' परिवृत्त कर,
मथने वाली दृढ़ बाँहें चाहिए,
शक्तिमय, स्फूर्तिप्लावित।
संपूर्ण मनोयोग से संपृक्त
समूची मनीषा से शाश्वत-युक्त,
सुपथे अग्रसरो,
हे स्वयंभू, उपद्रष्टा, अनुमंता, बोद्धा, कर्ता, कवि,
तत्त्वमसि।

●

धंसौर, जिला : सिवनी (म० प्र)

सरदेशाइ वेंकटरामय्या

मौत

तेज़ी से कॉलेज की ओर बढ़ता हुआ रामाराव सड़क पर एकत्र छोटे से जन-समूह को देख साइकिल से उतर गया। सामने दस एक व्यक्तियों की छोटी सी भीड़ जाने किसे घेरे हुए थी। वे सब जाने क्या देख रहे थे।

एक आदमी सड़क पर पड़ा हुआ था। उसमें कोई कंपन नहीं था। साँस थी या नहीं, पता नहीं। लोग तरह-तरह की बातें कर रहे थे।

"अभी मर गया।"

"अभी गिरा था।"

"यहीं मर गया।"

आदमी मरा पड़ा है। जाने किस कारण मर गया सड़क पर!

"बेचारा, जाने किस जगह का है!"

"सभी खड़े देखते रहेंगे तो कैसे होगा? दाह-संस्कार, अंत्येष्टि-क्रिया नहीं करनी है? कोई तो भलामानस सामने आये!" एक भलेमानस की सलाह।

रामाराव के ध्यान में कुछ आया और वह पास की दूकान की ओर बढ़ गया। दूकान में टेलीफ़ोन की ओर लपका।

"हेल्लो...हेल्लो...'प्रेम समाज' है क्या?"

"...।"

"प्रेसीडेंट मिसेज़ सुब्रायलु हैं न?"

"जी।"

"क्षमा कीजिएगा मैडम, आपको कष्ट दे रहा हूँ। मेन रोड पर, यानी नारियल वाली गली के नुक्कड़ पर एक व्यक्ति मरा पड़ा है। लगता है बेचारे का कोई है नहीं। उसका दाह-संस्कार वगैरह आपके समाज द्वारा...!"

"रुकिए, रुकिए। नारियल वाली गली . . . यानी कहाँ; नाली के उस तरफ़ न?"

"जी हाँ, उसी तरफ़।"

"तब आप दीनबंधु-संघ वालों से सलाह-मशविरा कीजिए। उसकी प्रेसिडेंट हैं, मिसेज़ सुब्रामण्यम।"

"यह क्या! आपका समाज भी तो कर सकता है!"

"इस बीच संघ वालों तथा हमारे समाज के बीच काफ़ी गड़बड़ियाँ आ गयी हैं। एक ही कार्य में दोनों के हाथ लगाने तथा प्रतियोगिता बढ़ने के कारण बहुत सी झंझटें आयीं। हमारी मिसेज़ बुल्लुअव्वाय हैं न! --ज़िला महिला संघ की प्रेसिडेंट--उन्होंने आ कर इस बीच समझौता करवाया। उसके फलस्वरूप हम लोगों ने यह स्वीकार किया कि नाली के इस तरफ़ के सारे कार्यक्रम 'प्रेम समाज' वालों के होंगे; नाली के उस तरफ़ के समाज-सेवा-कार्य 'दीनबंधु संघ' वालों के होंगे। आपका बताया हुआ शव नाली के उस तरफ़ पड़ा हुआ है, इसलिए उन्हीं से कहना होगा।"

"यह बात है!"

"आपने जिसके विषय में बताया वह शरीर सचमुच मरा पड़ा है या जीवित है?"

"मरा पड़ा है। वहाँ की सारी जनता कह रही है, अभी मरा है।"

"ओहो, वास्तव में मिसेज़ बुल्लुअव्वाय जब समझौता करवा रही थीं उस समय हमने प्रार्थना की थी कि मरे लोगों की सेवा का भार 'दीनबंधु संघ' को तथा जो अभी तक मरे नहीं हैं उनकी सेवा का भार हमारे समाज को दिया जाय। इसके विषय में अभी तक अंतिम निर्णय नहीं हुआ है। जो बिल्कुल ही मरने-मरने को हैं उनके विषय में अभी तक कुछ भी निर्णय नहीं हुआ है। आपने जिसके विषय में बताया अगर उसका 'केस' वैसा ही है तो बहुत हंगामा होगा।"

"हेल्लो, मिसेज़ सुब्रामण्यम हैं न?"

"जी। मैं दीनबंधु संघ की प्रेसिडेंट बोल रही हूँ। क्या चाहिए?"

"मेरा नाम रामाराव है, जी।"

"अच्छा!"

"अभी मैं सड़क पर जा रहा था कि एक शव दिखलायी पड़ा। लगता है बेचारे का कोई भी नहीं है। आपके संघ के द्वारा दाह-संस्कार वगैरह का प्रबंध . . .।"

"आप किस संघ के मेंबर हैं?"

"मैं संघ-सेवक नहीं हूँ और किसी अन्य संघ का सदस्य भी नहीं हूँ। सड़क से गुज़रने वाला रामाराव हूँ, यह मैंने पहले ही आपको बता दिया है। आपके संघ के समक्ष एक प्रार्थी मात्र हूँ, बस!"

"शव कहाँ पड़ा हुआ है?"

"नाली के उस तरफ़।"

"तब तो वह हमारा ही क्षेत्र है। क्या आप समझते हैं कि आदमी पूरी तरह मर गया है ?"

"जी हाँ। मरा हुआ आदमी है—मरे हुए की तरह ही पड़ा हुआ है।"

"लेकिन मरे हुए की क्या सेवा होगी ?"

"मैंने कहा न, शायद दाह-संस्कार वगैरह का प्रबंध आपका संघ कर सके। थोड़ी देर पहले मिसेज सुब्रायलु को फ़ोन किया था। नाली के उस तरफ़ का 'केस' है, इसलिए उन्होंने आपसे बताने को कहा।"

"देखिए मिस्टर रामाराव, नाली के उस तरफ़ और इस तरफ़ के नाम पर नगर को हमने बाँट तो लिया मगर जीवित और मृत लोगों का बँटवारा नहीं हुआ। हम लोग जीवित लोगों की मरने तक की सेवा कर सकते हैं। इस तरह के विषयों पर 'सत्कर्म संघ' वालों से सलाह-मशविरा करना ठीक होगा। इस तरह के कार्य वे लोग करवाते भी रहते हैं।"

"उसके कार्य-निर्देशक कौन हैं ?"

"पता नहीं कौन हैं। हाँ, अभी याद आया, प्रेसिडेंट हैं डॉ० चिन्नपेद्दय्या। उसके सेक्रेटरी का नाम है पेद्दचिन्नय्या। फ़ोन नंबर वग़ैरह नहीं पता है। और फिर क्या ऐसे बकवास संघ वालों के पास फ़ोन होगा ! हुँ: !" कह कर फ़ोन रख दिया मिसेज सुब्रामण्यम ने।

"हेल्लो ! . . . बस्तालु गुरुस्वामी शेट्टी हैं न ?"

"जी।"

"पड़ोस में रहने वाले डॉ० चिन्नपेद्दय्या को ज़रा बुला देंगे ?"

"जी . . . आप ?"

"मैं एक राही हूँ। चिन्नपेद्दय्या 'सत्कर्म संघ' के प्रेसिडेंट हैं न ! संघ से एक प्रार्थना करनी है।"

"जी, बहुत अच्छा। मैं भी उस संघ के बोर्ड का मेंबर हूँ। संघ के नाम पर डॉक्टर साहब अक्सर हमारे फ़ोन का उपयोग करते हैं।"

थोड़ी देर में डॉक्टर साहब फ़ोन पर आये।

"हेल्लो, डॉक्टर साहब ! मेरा नाम रामाराव है। आपके संघ से एक प्रार्थना करनी है। मेन बाज़ार के बाहर—यानी नारियल वाली गली के मोड़ के पास एक व्यक्ति मरा पड़ा है। लगता है बेचारे का कोई भी नहीं है। आपके संघ के द्वारा अंत्येष्टि-क्रिया करवायी जा सके . . .।"

"मरे हुए व्यक्ति का नाम क्या है ?"

"मैं कैसे जान सकता हूँ। मैं भी तो एक राहगीर हूँ।"

"राहगीर मिस्टर रामाराव, एक बात है। हमारा संघ अंत्येष्टि-क्रिया वग़ैरह व्यक्ति के वर्णाश्रम आदि का पता लगा कर उसी पद्धति से करता है। मरा हुआ व्यक्ति कौन है यह पता ही न लगे तो किस पद्धति से यह सब कर सकेंगे ?"

"वह कौन है, यह तो कोई नहीं जानता। उसकी पहचान का कोई होता तो बात आप तक आती ही क्यों, बताइए!"

"यह भी एक 'प्वाइंट' है। तब बात हम तक क्यों आती!"

"तब आप एक काम कीजिए। सभी मतों और सभी वर्गों के अय्यर लोगों को बुलवाइए। वहाँ जा कर उस व्यक्ति के विषय में जानने का प्रयत्न हम लोग करेंगे। अगर उस तरह जानना संभव न हो सके तो सबों से मंत्र वग़ैरह पढ़वा कर शास्त्र-सम्मत ढंग से हम लोग शव का क्रिया-कर्म कर देंगे। आप क्या कहते हैं?"

"सेक्रेटरी से पूछ कर अभी बताता हूँ।"

"रामाराव हैं न?"

"जी हाँ।"

"हमारे सेक्रेटरी ने पहले हल्ला किया पर फिर मान लिया। उसने यह भी कहा कि प्रेस वालों को बुलाया जाय तथा राष्ट्रीय स्तर पर 'पब्लिसिटी' की जाय कि इस तरह के कार्य को सर्वप्रथम हमारे संघ ने ही हाथ में लिया।"

"कितनी देर में कार्य शुरू कीजिएगा?"

"कम से कम दो घंटे तो लगेंगे ही। हमारे कुछ सदस्यों को वहाँ उपस्थित होना पड़ेगा। प्रेस वालों को भी तो आना पड़ेगा। आपको भी अवश्य ही आना पड़ेगा। इस 'इन्फ़ार्मेशन' के लिए आपको बहुत धन्यवाद। देखिए, आपको ज़रूर आना होगा।" . . .

दो घंटे बाद रामाराव नारियल वाली गली के पास पहुँचा। मृतक के पास काफ़ी लोग जमा थे। प्रेसिडेंट साहब गाड़ी में आये। सेक्रेटरी भी आया। अपने साथ वे कई मतों और वंशों से संबद्ध अय्यरों को भी ले आये थे। प्रेस वालों के आने के बाद, कौन पहले मंत्र पढ़े इस पर थोड़ी देर तक बहस होती रही। सभी एक ही साथ मंत्रोच्चार करें, यही तय किया गया। वहीं पर स्थित तीन संघों के बोर्ड वालों ने समर्थन किया।

तभी—

अविश्वसनीय. . .अद्भुत. . .!!

जनता कुछ पीछे हट गयी।

च. . .लो. . .!! . . .संघ वालों ने क़दम पीछे हटाये।

शव हिला।

आँखें खुलीं।

उठ कर वह बैठ गया।

मर कर जिये हुए उस व्यक्ति ने एक बार चारों तरफ़ देखा; उठ कर खड़ा हुआ और नारियल वाली गली की ओर बढ़ गया—हिलते हुए. . .डोलते हुए. . .।

"यह मरा नहीं था!"

"पी कर सो गया था, बस!"

"विचित्र बात है!"

"सोचा था, मरा पड़ा है। बेकार में उसने हमें ही मार डाला।"

"मिस्टर रामाराव, आपको नमस्कार! आदमी मरा है कि नहीं, ठीक से जाने बिना ही आपने इतना हंगामा क्यों मचाया? लोग क्या सोचेंगे! पत्रिका वाले क्या सोचते होंगे! हुँः" कह कर खीझ के साथ गाड़ी में प्रेसिडेंट, सेक्रेटरी वग़ैरह चले गये। बचे हुए लोग, जिनके पास गाड़ी नहीं थी, पैर घसीटते हुए चले गये।

सबों के जाने के बाद नारियल वाली गली की ओर बढ़ गया रामाराव। मर कर जिया हुआ व्यक्ति गली के दूसरे कोने पर दिखलायी पड़ा। एक सौ गज़ की दूरी से रामाराव ने उसका पीछा किया। नगर के बाहर निकल आये दोनों। श्मशान पास आ गया। चारों तरफ़ देख रहा था वह व्यक्ति। रामाराव तेज़ी से उसके पास आया। जाने कहाँ तो देख रहा था वह।

"तो तुम मरे नहीं थे गुरू?"

"...!"

"...!"

हा...हा...हा...हा...! अजीब विकृत सा हँसा वह और अचानक नीचे गिर पड़ा। फिर नहीं उठा। इस बार वह सचमुच ही मर गया था—वहाँ जहाँ उसे मरना चाहिए था।

रामाराव ने फिर किसी को फ़ोन नहीं किया।

अनुवादक : सी० भास्कर राव,
स्नातकोत्तर हिंदी विभाग,
राँची विश्वविद्यालय, राँची (बिहार)

विजयबहादुर सिंह

आधुनिकता और हिंदी कविता

ऐतिहासिक विकास की प्रत्येक नयी स्थिति आधुनिक होती है। यहाँ जीवन और समाज के प्रतिमानों में कोई आमूल परिवर्तन नहीं घटित होता, मानव-समाज की नियति नहीं बदलती, उसकी अपनी जीवन-चेतना का संकट नहीं उत्पन्न होता। ऊपरी दृष्टि से सभ्यता के वे मानदंड बदल जाते हैं किंतु लक्ष्य नहीं बदलता। जिस आधुनिकता की चर्चा मैं करने जा रहा हूँ वह इससे कुछ भिन्न वह बदली हुई जीवन-दृष्टि की, सांस्कृतिक संघात की स्थिति की उपज है। आज हमारे जीवन के तौर-तरीक़े ही नहीं बदल रहे हैं बल्कि हमारे जीने का लक्ष्य भी बदला है। निर्वाण और परम तप तथा मोक्ष की कामना से हम अपने को अभिभूत नहीं पाते, प्रत्युत हमारी दृष्टि ऐहिक पूर्णताओं के प्रति प्रयासशील है। बाहर की यह स्थिति ही भीतर के समस्त संस्कारों को झकझोर दे रही है और परंपराओं से संयोजित अनेकानेक अतिलौकिक और पारलौकिक तत्वों के कुहासे फटने लगते हैं। चाँद और सूरज हमारे लिए अब देवता नहीं रह गये, क्योंकि हमने उनके रहस्यों को जान लिया है। ऐसी स्थिति में पूर्व की वे मान्यताएँ और प्राक् समाज के प्रतिमान हमें हमारी समस्याओं—हमारे अपने युग के प्रश्नों का उत्तर नहीं देते। यहीं वस्तुतः हमारी अपनी असंपृक्ति का बोध होने लगता है। वस्तुतः यह बोध ही आधुनिकता के बोध का प्रारंभिक बिंदु है। आधुनिकता के बोध के विषय में जो सबसे बड़ी भ्रांति है वह यह कि उसे कुछ लोग समसामयिक बोध का पर्याय मान बैठते हैं जब कि आधुनिकता एक व्यापक भूमिका है जिसके अंतर्गत समसामयिकता एक महत्वपूर्ण परिच्छेद भर है। आधुनिकता एक साथ ही राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय भूमिकाओं की चेतना है जिसमें संकीर्ण मानवता के बंधन टूट जाते हैं और हम केनेडी की मृत्यु के समय भी उतने ही द्रवित और दुखी होते हैं जितने महा मानव नेहरू की मृत्यु पर। आधुनिकता का बोध हमें एक नया आकाश देता है जहाँ सबल मानवीय परंपराओं को और नये वैज्ञानिक मूल्यों को एक सामंजस्य और संतुलन की भूमिका दी जा सके।

आधुनिकता की उपज राजनीतिक और वैज्ञानिक परिवेश के संघात के कारण हुई है। इसका पहला विरोध उन समस्त भावुकताओं से है जो मानवीय विकास को नैतिक और आध्यात्मिक आधारों पर विकसित करने की आकांक्षिणी हैं। भारत जैसे आध्यात्मिक राष्ट्र के लिए यह संकटपूर्ण स्थिति है जहाँ प्राचीन शास्त्रों और मनुस्मृतियों की विपुल नियंत्रण सत्ताएँ हैं। जहाँ नीति-कथनों और आरण्यक-उपनिषदों की एक महान परंपरा है जो मनुष्य को संचालित करने का दम अब भी भरती हैं। किंतु भारत का नया नागरिक जो आज के परिवेश को आँख खोल कर

विवेकपूर्ण दृष्टि से देखना चाहता है—इन समस्त महानताओं के प्रति श्रद्धानत होते हुए भी उन वैज्ञानिक निष्कर्षों के प्रति अधिक सजग है। उसका यह आग्रह पुराने समाज के व्यक्तियों के लिए एक अनुत्तरदायित्व और वैलक्षण्य का आग्रह है। वे समझते हैं कि यह कोई स्थिति नहीं है। एसी स्थिति अभी आयी ही नहीं है। ऐसे लोगों के लिए मुझे एफ़० आर० लीविस की वे पंक्तियाँ उत्तर रूप में याद आती हैं जिनमें उसने इसी संदर्भ को ध्यान में रखते हुए लिखा है: **किसी युग में मानवीय अनुभूति की क्षमता चंद अल्पसंख्यकों द्वारा ही अनुभव की जाती है, और विशिष्ट कवि इसलिए विशिष्ट है क्योंकि वह इन्हीं में से एक है।**

वस्तुतः कवि अपने युग का सबसे सजग और सचेत प्राणी होता है। किन्हीं अर्थों में वह संपूर्ण जाति की चेतना का सर्वोत्कृष्ट बिंदु होता है। इसीलिए वह महान होता है। वाल्मीकि और कालिदास, सूर और तुलसी तथा प्रसाद और निराला ऐसी ही परंपरा के निर्माता रहे हैं। आज भी वे हिंदी कविता के पाठक और हिंदी साहित्य के लिए उतने ही श्रेष्ठ और महान हैं किंतु आज की स्थिति उनके सामने नहीं थी। उनकी आधुनिकता इस युग की आधुनिकता से भिन्न थी।

वस्तुतः आज की हिंदी कविता में आधुनिकता की चर्चा का एक खास अर्थ है और वह अर्थ उसकी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक पीठिका का है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का है। सामाजिक स्तर पर हम सुधार नहीं चाहते, एक परिवर्तन चाहते हैं—दूसरे अर्थों में उस नये समाज की माँग करते हैं जो हमारी अपनी स्थितियों के अनुकूल हो—हमारा अपना हो, हमारे लिए हो। पहले के समाज में व्यक्ति की स्थितियों और संदर्भों पर विचार न कर उसे पाप-पुण्य और नीति-अनीति के जाल में उलझाया गया है। उसकी संभावनाओं को अपरोक्ष सत्ता के ऊपर छोड़ उसे भटकने के लिए विवश किया गया है। आज इस जाल को पार कर वह उस स्थिति का आकांक्षी है—जहाँ पहले वह हो और उसकी सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए उसका समाज अधिक स्पष्टता से बात यों कही जा सकती है कि समाज कोई निर्जीव नियमों की पिटारी न हो कर किन्हीं परिवर्तनशील स्थितियों में मानव की व्यावहारिकताओं का संतुलित धरातल भर हो। यही आज के युग की माँग है, अनिवार्यता है। इसी संदर्भ में समाज के उन मूल्यों की चर्चा करना भी असंगत न होगा जो व्यक्ति को समाज से जोड़ते हुए भी उसकी अपनी स्वतंत्र इकाई की रक्षा करने में सक्षम है। 'साइंस एंड ह्युमन वैल्यूज़' के लेखक ब्रोनोवस्की ने इन मूल्यों को अपरवशता (इंडेपेंडेंस) और मौलिकता, मतवैभिन्न्य (डिस्टेंट) और स्वतंत्रता तथा सहनशीलता के रूप में देखा है। मार्क्सवादी विचारधारा उन मूल्यों को स्वीकार करती है जो व्यक्ति के ऊपर समाज को थोपते हैं और व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा के लिए कहीं भी स्थान नहीं रखते। विज्ञान युग के मूल्य सर्वथा मानवीय हैं। इन्हीं पर आज का समाज अपने को आधारित कर सकता है। इनके अभाव में पारिवारिक स्थितियों में भी विघटन आरंभ हो जायगा और व्यक्ति टूट-टूट कर अलग हो जायगा। वैसे भी आज हम पारिवारिक भूमिका पर उतने संयत और सुव्यवस्थित नहीं रह पाये, जितने पहले थे। पीढ़ियों के बीच इतनी बड़ी खाई शायद कभी नहीं आयी थी। 'पर्सनल वैल्यूज़ इन दि माडर्न वर्ल्ड' के लेखक जैफरीज़ ने इसे नैतिक मूल्यों के अभाव की स्थिति माना है।

उनका यह मत है कि आज के बच्चे अपने पिता के जीवन-अनुभवों और जीवन-यापन के स्तरों पर विश्वास नहीं करते। इसके विपरीत वे उससे कुछ नया और मौलिक निर्माण चाहते हैं। डॉ० धर्मवीर भारती की कहानी 'यह मेरे लिए नहीं' (नयी कहानियाँ—भारतीय कहानी विशेषांक) में कहानी के नायक दीनू की मनःस्थिति इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। पिता अपना उत्तरदायित्व कैसे अपने अयोग्य पुत्र को सौंपे, यह उसके लिए चिंता का विषय है; किंतु तथाकथित अयोग्य पुत्रों की इस नयी पीढ़ी में एक अजीब प्रकार की सहनशीलता है। किंतु संघर्ष की स्थिति तब भी कम नहीं होती। यह समस्या दोनों को परेशान कर रही है। दोनों के अपने लक्ष्य और अपने-अपने मार्ग हैं। एक ओर पुरानी मर्यादित व्यवस्थाओं की भीड़ भरी स्थापना है तो दूसरी ओर नये प्रश्नों को ले कर भीड़ से हट कर नयी ज़मीन के लिए भटकने वाला नवयुवक। सचमुच इस युग को समझना आसान नहीं है। औद्योगिक परिवर्तनों एवं वैज्ञानिक आविष्कारों ने पूरी व्यवस्था को नये वर्गों में प्रतिष्ठित कर दिया है। ज़मीदार और किसान से हट कर मनुष्य और मशीन तथा अफ़सर और कर्मचारी का वर्ग निर्मित हो गया है। मशीनों के ढूह में मनुष्य दब गया है। उसका अस्तित्व अब एक औजार से अधिक नहीं दीखता। गजब का युग आया कि मशीनें मनुष्यों पर, सर्जन अपने स्रष्टा पर हावी हो जाय, व्यंग्य और उपहास करने लगें। आज उसके जीवन की प्रतियोगिताओं में वे उतरी हैं जिनमें प्राण-तत्व है ही नहीं—फिर संवेदना का प्रश्न कैसा!

अफ़सर और कर्मचारी की स्थिति और भी भयंकर है—मदन वात्स्यायन की 'तीसरा सप्तक' की कतिपय कविताएँ इस संदर्भ में विशेष द्रष्टव्य हैं।

वस्तुतः कृषि-समाज के बुनियादी सवाल अब उतने महत्वपूर्ण नहीं रहे जितने पहले थे क्योंकि कृषकों का समाज स्वयं नहीं रहा। गाँव का व्यक्ति भी अब गँवार नहीं है—भोला नहीं है। उसके आसपास विकास की योजनाएँ हैं—पानी के लिए ट्यूबवेल हैं, नहरें हैं, अँधेरे के लिए बिजली है, गाँवों में मशीनों की पैठ बढ़ती जा रही है। इसके विपरीत देश की नयी जनसंख्या उन कारखानों और अन्य औद्योगिक केंद्रों पर आधारित है जो विशाल योजनाओं के प्रारंभिक प्रारूप हैं। यहाँ मनुष्य की स्थिति मनुष्य के द्वारा ही निर्मित है और मनुष्य के लिए मनुष्य ही गड्ढा खोद रहा है। व्यक्ति-व्यक्ति में प्राचीन नैतिकता और समाजपरायणता के सारे धुँधलके शिक्षा के आलोक में छँटने लगे हैं। एक प्रकार से हमारा पुनर्वास हो रहा है जो सर्वथा विवेकपूर्ण एवं वैज्ञानिक है, जड़ नियमों की श्रृंखलाएँ जहाँ बंधन बन कर नहीं आतीं। एक समय था जब कि पौराणिक आख्यान और महाकाव्यों ने हमारे समाज को नियंत्रित किया था किंतु आज वे यहाँ 'मिसफ़िट' हो रहे हैं। उनकी एकांगिता हमारे सामने साफ़ झलकती है—कौरव केवल दुष्ट ही थे, उनमें अनीति मची थी यह अब हम सहज ही नहीं मान लेंगे और इस भीड़ में उन चरित्रों का सर्वनाश नहीं होने देंगे,—जो वस्तुतः निष्कलुष और उज्वल हैं। महाभारत युग की भी एक अपनी व्यवस्था थी किंतु क्यों नहीं वह व्यवस्था आज हमें छूती। उसका सर्वनाश ही एकमात्र निदान था। ऐसी घटनाओं के सहारे आज का सजग कवि उन स्थितियों का संकेत करना चाहता है जो इस युग में भी प्रस्थापित होने जा रही हैं। वहाँ कवि उनको प्रतीकात्मकता के उन धरातलों

पर प्रयुक्त करता है जहाँ उनके युग की भास्वरता समाप्त हो जाती है जो बहुत दिनों तक भावुक और अध्यात्म-प्रेमी भारतीयों के लिए स्पृहा का युग रहा है। 'अंधा युग' इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण काव्य-नाटक है जिसने संपूर्ण परिवेश की विकृत मर्यादाओं और मनःस्थितियों से घिरे हुए देखा है। आधुनिकता इन कतिपय जटिल और समस्याग्रस्त भूमिकाओं पर आज की हिंदी कविता का विकास हो रहा है।

हिंदी कविता में आधुनिकता की चर्चा करते हुए डॉ० देवराज ने इसका प्रारंभ प्रयोगवाद से स्वीकार किया है। किंतु प्रयोगवाद 'तार-सप्तक' में जन्मा और उसकी कविताएँ किसी विशेष युग-जीवन की नयी भूमिकाओं की ओर इंगित नहीं करतीं प्रत्युत वे अहं के विस्फोट की भूमिका भर थीं। वहाँ न तो कविता की कोई विशेष दिशा लक्षित हुई और न सामाजिक जीवन की कोई स्थिति ही साफ़ हो पायी। वहाँ बस पथ के अन्वेषी कवियों की एक भीड़ भर थी जो वैयक्तिक विवशताओं से पीड़ित अवश्य थे और अपने को भीतर ही भीतर टटोल रहे थे। कुछ ऐसे कवि भी उसमें संकलित थे, जिन्होंने नये काव्य-स्तर और नयी संवेदनाओं का आग्रह भर किया था किंतु वे इसे अपने काव्य की संवेदना तक ला नहीं सके थे। इसके विपरीत उनकी दृष्टि अपने युग-जीवन के प्रति उतनी सचेत नहीं थी, जितनी छायावाद के विरोध के प्रति। उनमें एक विशेष प्रकार का आग्रह था। स्वतंत्रता के पश्चात उभरने वाले काव्य में धीरे-धीरे यह आग्रह विलुप्त होता गया और 'नयी कविता' के कतिपय महत्वपूर्ण कवियों ने स्वयं की दृष्टि निर्मित की और नये जीवन-मानों के प्रति आकांक्षा भी व्यक्त की। जिस आधुनिकता की चर्चा यहाँ की जा रही है, वह प्रयोगवादी काव्य से प्रसूत नहीं हुई थी बल्कि नयी कविता के वातावरण में जन्मी थी किंतु यह आधुनिकता नयी कविता की सीमाओं में बँधी नहीं थी। और न यही सही है कि तथाकथित सभी नये कवि आधुनिक थे। आधुनिकता किसी आंदोलन का नारा नहीं है और न वह किसी युग के काव्य का लक्ष्य ही है। वह एक युगविशेष के काव्य की विशिष्ट स्थिति है। इसलिए आधुनिकता को काव्य का गुण स्वीकार कर के किसी महान कवि की भूमिका को अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि यह स्थिति आज भर है—कल नहीं थी—और कल नहीं रहेगी। यह किसी वादविशेष की प्रतिष्ठा भी नहीं है, प्रत्युत अपने में एक नयी परंपरा का अवतरण है। यह नयी परंपरा युग की प्रत्यंचा के समान तने हुए मस्तिष्क की उपज है। इसे वही भोगता है जो अपने पास दूर की स्थितियों के प्रति पूर्ण सजग है और जिसकी दृष्टि विवेकशील है। इसीलिए किसी वादविशेष से जोड़ कर इसके मूल्यों की अवमानना नहीं की जा सकती। आधुनिकता का प्रश्न उठा भी नहीं था कि प्रयोगवाद मर गया। क्योंकि उसका संबंध व्यक्ति की अपनी विवशताओं और पीड़ाओं से था। इसके विपरीत टूटते हुए समाज के प्रति निरासक्ति की भावना एक ही साथ दो जीवन-भूमियों पर जी लेने का प्रयास और एक ही धरातल पर सरल और जटिल होने की प्रक्रिया आधुनिकता का पहला लक्षण है। हिंदी कविता में संपूर्ण काव्योचित महानताओं के अतिरिक्त आधुनिकता की कतिपय संभावनाएँ महाकवि निराला में उतरी थीं। व्यक्ति और समाज के संघर्ष को अकेले झेलने वाले निराला अपने काव्य में भावों और छंदों की वह भूमिका हमें दे गये, जिसे अब तक के आधुनिकतम कवियों ने स्वीकार किया है। मेरे कहने का तात्पर्य

यह नहीं कि हिंदी कविता निराला से आगे नहीं बढ़ पायी है किंतु व्यापक किंतु सूक्ष्म संवेदनाओं, भाषा के विविध आयामों और काव्य की समस्त संभावनाओं के प्रश्न उनके द्वारा उठाये गये थे। उन्होंने आते हुए युग की संक्रांति को मानसिक स्तर पर झेला था। भाषा के आधार पर युग की आत्मा को उन्होंने सबसे पहले प्रतिष्ठित किया। वे इसीलिए सबसे पहले आधुनिक थे और उसके साथ महान भी थे।

अज्ञेय जी ने काव्य के अंतर्राष्ट्रीय आयामों की ओर इंगित किया। उन्होंने हिंदी कविता को विश्व कविता के समानांतर रखने की कोशिश की। इसके साथ ही उन्होंने समस्त प्राचीन काव्य-प्रतिमानों को एक किनारे रख कर अपनी नायिका को 'डोलती कलँगी छरहरे बाजरे की' कहा। अज्ञेय जी में क्षमता तो थी किंतु वे अध्यात्म और काव्य की शाश्वत भूमिकाओं की ओर मुड़ गये क्योंकि उन्हें प्रसाद और निराला की परंपरा से जुड़ना था।

अज्ञेय के पश्चात हिंदी कविता में आधुनिकता की प्रतिष्ठा किसी एक व्यक्ति या कृतिकार की देन नहीं है प्रत्युत पूरी की पूरी एक पीढ़ी उसके लिए उत्तरदायी है। जब कवि ने अपने को माध्यम स्वीकार करते हुए पाठक से यह कहा था :

> **मेरे काव्य के इन मानस-परोक्षों से**
> **एक अपना आकाश रचो**
> **मेरे असंतुष्ट शब्दों को लो**
> **और कला के इस विदीर्ण पूर्वग्रह मात्र को**
> **सौंदर्य का कोई नया कलेवर दो**
> **(क्योंकि यही एक माध्यम है जो सदा अक्षुण्ण है)**
>
> (कुँवर नारायण)

तो उसने यह भी कामना की थी कि किसी भी तत्व के विकास के लिए मिट्टी और खुली जलवायु चाहिए। मानव-चेतना के विकास के लिए इतना ही काफ़ी है कि उसकी बुद्धि को ही दासता से मुक्त कर दिया जाय तभी वह अपनी अस्मिता में विश्व के विस्तार को आँक सकता है। यही वह पीढ़ी रही है जिसने पूर्ववर्ती काव्य-धाराओं की चर्चा न करते हुए भी नयी स्थितियों की सर्जनशील भूमिका की खोज की। अनुभूति का धरातल बदल गया और काव्य केवल भावनाओं तक ही सीमित नहीं रह पाया। आधुनिकता में दर्शन का अभाव किंतु दृष्टिकोण का प्रबलत्व बढ़ा और यह दृष्टिकोण-मुक्तता का दृष्टिकोण था। इसमें कहीं से ऊपर की थोप-थाप नहीं। और न भीतर की हावी हो जाने वाली चेतना ही थी। मनुष्य था और उसके आसपास पास-पड़ोस की वे स्थितियाँ थीं। जो उचित संज्ञा की अपेक्षा में नामहीन हो कर खड़ी थीं। यहाँ काव्यशास्त्र के निर्धारित फ़ार्मूले ने कवि को रोका नहीं और न कवि ने काव्यशास्त्र पर विचार ही किया। यह स्थिति वस्तुतः परिवर्तित मूल्यों की थी जिनका विवेकपूर्ण विश्लेषण आवश्यक था। जहाँ व्यक्ति स्वयं के बारे में भी तटस्थता से विचार कर सके। और इस विश्लेषण की स्थिति में ही जब रचना-

प्रक्रिया का सामंजस्य घटित होता है तब सर्जन की वह भूमिका बनती है जिसे आधुनिक काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ उसकी दृष्टि स्वयं के विषय में भी उतनी ही तटस्थ और वस्तु-परक है जितनी कि दूसरों के बारे में। अपने व्यक्तित्व में अनेक व्यक्तित्वों की जीती-जागती चेतना को वह पहचानता है। भारतभूषण अग्रवाल की कविता **मैं और मेरा पिट्ठू** तथा शिव-प्रसाद सिंह का निबंध **वसंत और मैं** (क ख ग) इस तथ्य को भली भाँति स्पष्ट कर सकते हैं। यह आधुनिक युग की एक प्रकृति है जिसे नयी कविता के व्याख्याता लारेंस डरेल ने इन शब्दों में व्यंजित किया है। **वस्तुओं के प्रति निर्वैतिक दृष्टि तथा द्वैध की स्वीकृति हमारे युग का वैशिष्ट्य है।**

यह आज का, हमारे युग का यथार्थ है। अतः कविता के किसी एक पक्ष को ले कर उस पर कोई राय नहीं क़ायम की जा सकती। कुछ-कुछ समीक्षक या विचारक हिंदी की नयी कविता पर अनास्था और कुंठा का, विदेशीपन और अभारतीयता का प्रभाव देखते हैं किंतु उसकी अपनी आत्मा को स्नेह नहीं देते। वस्तुतः नयी कविता में अनास्था और कुंठा नहीं है जो कुंठा और अनास्था की कविता है वह आधुनिक नहीं हो सकती और चाहे जो कुछ हो ले। इसे दूसरे रूप में यों समझा जा सकता है कि अनास्था और अँधेरे का प्रश्न वही व्यक्ति उठाता है जिसमें आस्था और प्रकाश की ललक होती है। डॉ० देवराज उपाध्याय का यह कथन मुझे ऐसे संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण लगता है कि जो लोग जीवन से निराश होने की बात करते हैं उनमें जिजीविषा का तत्व प्रचुर मात्रा में रहता है। बात उल्टी है लेकिन सच है। आज की कविता में कवि की तटस्थ दृष्टि के कारण अपनी स्थिति की भयानकता को भी उघाड़ कर रख देने की शक्ति है। इस भयानकता और उसके भयंकर प्रभावों की ओर यदि संकेत कर देना ही अनास्था को स्वीकारना है तो आधुनिक कविता अनास्थामयी है। किंतु यह भी सही है कि आज के व्यक्ति में जीने का दम जितना है उतना शायद किसी भी युग में नहीं रहा होगा। पहले जाने-पहचाने शत्रु थे, जानी-पहचानी बाधाएँ। जीवन बहुत कुछ सीधा और सपाट था। और आज वह कुछ भी नहीं है। किंतु आज का कवि इस उलझे और जटिल जीवन को भोगता है—पलायन नहीं करता—जिसका प्रमाण सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविता 'ज़िंदगी के गीत' में खोजा जा सकता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अतीत की ओर न जा कर भविष्य की ओर पलायन करना चाहता है बल्कि वर्तमान को—उसके संपूर्ण ताप को सहते हुए आगे बढ़ना चाहता है। आधुनिक कविता वर्तमान की इसी भयानकता के बीच एक आस्था की आवाज है। यहीं कुछ लोग विद्य-मानता या वर्तमानता को समसामयिकता से जोड़ देने की भूल करते हैं। किंतु आधुनिकता की मूल भूमिका युगीन वास्तविकताओं से संबद्ध है न कि सामयिक जीवन-प्रसंगों से। पश्चिमी आधुनिकता के प्रसिद्ध समीक्षक स्टीफ़ेन स्पेंडर ने आधुनिकता के 'की-नोट' की खोज करते हुए लिखा है: **शौर्यमयतापूर्ण संवेदनशील आधुनिक मस्तिष्क तथा कटु आधुनिक वास्तविकताओं का सायुज्य—मशीन, नगर, कृमिद्रु-आसव अथवा वारांगना—मेरी दृष्टि में आधुनिकता का मूल स्वर है।** यह केवल शहर की अनेकानेक संभावनाओं की पहचान भर नहीं है, बल्कि शहरों में जीती-जागती एक संस्कृति का अवतरण है। यही वह अर्थ देने वाली प्रक्रिया जन्म लेती है जो नयी कविता की सर्जनशीलता कही जा सकती है। और यह सर्जनशीलता कवि का वह मौलिक निर्माण है जो

उसकी अपनी चेतना-दृष्टि के आधार पर निर्मित होता है। खंडित विश्वासों के इस युग में संशय और असमंजस की दीवारें हमारे चारों ओर खड़ी हैं। पुरानी भावनाओं के सेतु टूटते ही नये सेतुओं का आग्रह तो हुआ किंतु युग की अनेक यात्राएँ अब भी खंडित हैं। यही वह संक्रांति का समय है जब हम अपनी स्वस्थ परंपरा के कंधे पर खड़े हो कर वह सब झेल रहे हैं जो हम पर से गुजरता है। कुछ लोग कह सकते हैं भारतीय परिवेश में—हमारे अपने समाज में ये स्थितियाँ कहाँ हैं? उनका यह प्रश्न एक ओर जहाँ उनकी अज्ञानता प्रकट करता है वहीं दूसरी ओर सतही चेतनाओं तक की उनकी छुअन का संकेत भी देता है। शहर तो शहर, गाँव के लोग भी अब इस स्थिति को भोग रहे हैं और इसका अनुभव उन्हें किसी न किसी रूप में हो रहा है। यही कारण है कि गाँवों में 'डिसऐडजस्टमैंट' की समस्या और भी प्रबल रूप में है। ऐसी स्थिति कुछ और उत्पन्न करे या न करे एक संवेदनहीनता का धरातल अवश्य खोज लेती है, जहाँ मनुष्य मनुष्य न रह कर कई निर्जीव तत्वों का एक समवाय भर हो जाता है—मुक्तिबोध के माध्यम से उसका साक्षात्कार किया जा सकता है:

काठ के पैर
ठूँठ-सा तन
गाँठ-सा कठिन गोल चेहरा
लंबी उदास लकड़ी डाल-सा हाथ क्षीण
वह हाथ फैला लंबायमान
दूरस्थ हथेली पर अजीब घोंसला...
पेड़ में एक मानवीय रूप
मानवीय रूप में एक ठूँठ।

आज के व्यक्ति का यह चित्र शायद विसंगतिपूर्ण लगे और कुछ जटिल भी महसूस हो किंतु जटिलता तो आज के जीवन में भी है। नयी कविता की जटिलता के संबंध में विचार करते हुए डॉ० नामवर सिंह ने लिखा है कि जिसे हम प्रायः जटिल समझ रहे हैं वह कहीं जीवन की ही जटिलता तो नहीं है और जिस जीवन को हम अपनी कमनिगाही के कारण सरल समझ रहे थे, कवि ने उसमें छिपी जटिलता का उद्घाटन कर दिया है। आज का पाठक रचना की जटिलता के भीतर नहीं पैठना चाहता, इसके विपरीत वह उसे पुराने संवेदनों के सपाट मैदानों पर उतार लेना चाहता है जहाँ उसकी सरल शब्दावली भी दुरूह बन जाती है। ऊपर से बिलकुल सरल और सीधी-सादी शब्द-योजना किंतु भीतर से इतनी मुरेड़, इतनी गाँठें क्या आज की सामाजिकता में नहीं दीखतीं। कवि का विवेकशील स्तर इतना सजग है कि वह 'अँधेरे में' भी सब कुछ पहचान लेता है और यह अब तो उसका स्वभाव बन गया है। वह बेईमान इसलिए हो सकता है कि समाज में बिखरे उन आस्था-कणों को नहीं चुनता जो उसे छूते तक नहीं किंतु उसकी ईमानदारी तो इतनी है ही कि अदम्य आस्था से भरा हुआ वह अपने आसपास से ले कर दूर-दूर तक की समस्त संवेदनशील

घटनाओं की काव्यात्मक अभिव्यक्ति देता है। आज का समाज जिस बुर्क़े को ओढ़े हुए चल रहा है उसे वह छीन लेना चाहता है। मुक्तिबोध ने भी यही किया था और कुछ अंशों तक बंगाल की भूखी पीढ़ी भी यही चाहती है। ये सभी समाज के उन हिंस्र पशुवत व्यक्तित्वों की नक़ाबें खींच लेने को बेचैन हैं, जो दिन में आरोपित सभ्य व्यावहारिकता (मैनरिज़्म) में अपना सानी नहीं रखते किंतु रात में उनका असली रूप पिशाच का हो जाता है। मुक्तिबोध जी ने दो बजे रात के अँधेरे में निकले हुए इसी प्रकार के व्यक्तित्वों के जुलूस की ओर स्पष्ट इशारा करते हुए लिखा है:

यहाँ ये दीखते हैं—भूत पिशाच-काय
भीतर एक राक्षसी स्वार्थ अब
साफ़ उभर आया है
छिपे हुए उद्देश्य
यहाँ निखर आये हैं।

(चाँद का मुँह टेढ़ा है)

ऐसे वक़्त को पहचानना भी जहाँ मुश्किल है वहाँ बुरी बात का बुरा भी कौन माने! युग के यथार्थ का इतना तीखा बोध या तो निराला में था या मुक्तिबोध में। वस्तुतः मुक्तिबोध इस दृष्टि से निराला की संभावनाओं के अगले बिंदु पर उतरे थे। निश्चय ही यहाँ मैं निराला और मुक्तिबोध की तुलना नहीं कर रहा हूँ।

आधुनिकता के संबंध में अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न हो गयी हैं। कुछ लोग आधुनिकता को केवल अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर देखना चाहते हैं जहाँ राष्ट्रों की अपनी-अपनी विशिष्ट सीमाए समाप्त हो जाती हैं। मैं समझता हूँ आज का भारतीय कवि ऐसी भूल नहीं कर रहा है। उसे अतिवादी होने की फ़ुर्सत नहीं। वह केवल पश्चिमी देशों की नक़ल नहीं करता। उसे अपने देश की युगीन भूमि का बोध है। वैसे अपनी कविताओं में वह राष्ट्र की नदियों, चोटियों और सीमा-हीन सीमाओं का उल्लेख नहीं करता। वह अधिक गहरी भूमिकाओं को विवेक के साथ अपनी कविता में रखता है क्योंकि अनेक राष्ट्रों के बीच आज की अपनी राष्ट्रीय स्थिति कितनी विशिष्ट है इ से वह ख़ूब समझता है। उसका आग्रह सदैव देश की उन सबल परंपराओं की ओर रहा है, जो आज भी उसके साथ चलने को तैयार हैं।

कुछ विचारक यह प्रश्न उठाते हैं कि आज की कविता युग के संपूर्ण सत्य को उद्घाटित करने में अक्षम है। उनका यह प्रश्न बहुत स्वाभाविक तो है किंतु आज की वैविध्यपूर्ण चेतना को देखते हुए ऐसी स्थिति को बहुत अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। कला केंद्रीयता की माँग करती है और जहाँ केंद्रीयता का प्रश्न उठता है वहाँ एक रचनाकार को अपने आपको अनेक संदर्भों से जोड़ना आज की इस स्थिति को देखते हुए संभव नहीं है।

कक्ष सं०–११४, छात्रावास–१,
सागर विश्वविद्यालय, सागर।

कहानी

पृथ्वीनाथ शास्त्री

मैं---तलाश-वाद

मैं के बाद मेरा।...

याद नहीं, 'मैं' कब शुरू हुआ।...

'माँ', 'बापू', 'दादा', 'दादी' तो शुरू हुए थे, शायद दोवीं साल में ही। याद नहीं ठीक।...

तब से अब तक! बहुत लंबी अवधि गुज़री। 'न मम'—मेरा कुछ भी नहीं—कभी नहीं सीखा।...

जो 'मेरा' नहीं वह किसी दूसरे का है या नहीं?—कभी सिर नहीं खपाया। जो 'मेरा नहीं' उसे अपनाने की कोशिश हमेशा, हर वक़्त, हर जगह की है!...

मेरा 'मैं' हर-दम अपना दायरा बढ़ाता रहा है। केंद्र से इन दायरों की दूरी बढ़ती गयी है। मेरी साँस, मेरी आवाज़ शून्य में विलीन हो जाती हैं। 'मेरे अपने' इतने दूर हो रहते हैं कि कोई 'खोज-खबर' नहीं लेते।...मैं यही सब सोचता रहा था उस दिन।

एक विदेशी प्रोफ़ेसर के कहने से वह 'बौद्धिक खेल' खेला गया था।...

कमरे में हम पाँच व्यक्ति थे। पहले से प्रोफ़ेसर ने पूछा, "बताइए आप कौन हैं, क्यों और कैसे हैं? अभी बताइए, ठीक दो मिनट बाद दुबारा बताइए, और पाँच मिनट बाद 'अंतिम रूपेण' बताइए।...देखिए, खेल की एकमात्र शर्त है: आप जानबूझ कर कुछ भी ग़लत नहीं बोलेंगे। अगर कुछ ग़लत बोल भी जायँ तो उसे अंत तक ठीक कर देंगे। इसीलिए एक ही सवाल का जवाब तीन बार में देने को कहा जा रहा है।...हाँ, तो तैयार हैं आप?...तो अब बताइए—आप कौन हैं? क्यों और कैसे हैं?"

पहले ने उत्तर दिया, "मैं हूँ रामाधार भारती, वल्द जगदानंद आर्य, साकिन हाथरस, ज़िला अलीगढ़, पेशा क़लमनवीस, उम्र पैंतीस, रंग गेहुआँ, आँखें भूरी, वज़न एक मन पचीस सेर, लंबाई-चौड़ाई ५ फ़ीट, ८ इंच।"

दो मिनट की चुप्पी। एक सौ बीस सेकेंड की आवाज़ दो घड़ियों में, दो दिलों की धड़कनें।...

"नहीं, यह सब ही मैं नहीं हूँ।...इसके अतिरिक्त भी बहुत-कुछ हूँ मैं।...मेरी सही-सही वल्दियत तो शायद मेरी माँ रामदेई बता सकती थी, जो कब की मर चुकी है। और दूसरी सारी बातें मेरे अपने अतीत के अंश हैं।...मैं...मैं...।"

फिर ख़ामोशी। बाब्बा, पाँच मिनट इतने लंबे होते हैं।...टिक्-टिक्-टिक्, रामाधार क़लमनवीस...सोच रहा है, था...

...आख़िर मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कैसे हूँ?...मैं आदमी हूँ, नहीं, सिर्फ़ एक प्राणी हूँ। यह शरीर मेरा है। मेरी आँखें भूरी हैं, बाल हल्के काले हैं। जिस्म का रंग गेहुआँ, छाती ३६॥ इंच है...फिर भी 'मैं' मात्र यही सब तो नहीं हूँ, यद्यपि ये सब मेरे हैं।...और मैं इनसे अलग हो कर क्या रह जाऊँगा, नहीं जानता।...

...मेरा यह नाम मेरे माँ-बाप ने रखा था—यह कैसे कहूँ कि वे ही मेरे जननी-जनक थे!...लोग कहते हैं; वे स्वयं भी कहते थे; उनकी सारी संपत्ति विरासत में मुझे मिली है। क़ानून ने, पास-पड़ोस ने माना है कि मैं उनकी औरस संतान हूँ।...

...जब से होश सम्हाला है, 'मैं' और मेरे इस जिस्म में, ज़हन में कोई फ़र्क़ नहीं दिखायी पड़ा। लेकिन वक़्त-बेवक़्त मुझे ज़ोरों से महसूस हुआ है—मैं सिर्फ़ ये ही नहीं,—इनके अलावा भी बहुत-कुछ हूँ। तो फिर मैं क्या हूँ?...सोचता रहा रामाधार भारती, क़लमनवीस।

प्रोफ़ेसर बोला, "पाँच मिनट ख़त्म। हाँ, तो अब बताइए आप कौन और क्यों और कैसे हैं?"

मैं साहब, ठीक समझ नहीं पा रहा—क्या कहूँ—अभी तक सोचता था कि मैं अपनेको ठीक-ठीक जानता हूँ, लेकिन अब लगता है कि नहीं, यह सब तो मात्र दूसरों का कहा-समझाया-बताया है। शायद वे ठीकही कहते हों, पर मुझे तो अब साफ़-साफ़ महसूस होता है, मैं इसके अतिरिक्त बहुत-कुछ और भी हूँ, जिसे मैं अभी स्वयं ही नहीं जानता, और अगर अपने अनजाने में जानता भी हूँ तो उसे व्यक्त नहीं कर पा रहा।...आप मेरी मदद कीजिए, बताइए कोई 'तकनीक' ख़ुद को जानने की?"

दूसरे से भी प्रोफ़ेसर ने अपना वही प्रश्न दुहराया।

यह आदमी (प्राणी) जवाँमर्द 'टाइप' का था। लंबी-चौड़ी देह, एकदम काला-कलूटा, घनी मूँछें, सँवार कर हिटलरी फ़ैशन में कटी। आँखें सुर्ख़, मोटे-मोटे होंठ। बाल छोटे-छोटे पर आबनूस की लकड़ी जैसे काले। सख़्त। 'बुश-कट स्टाइल' में बने-सँवरे, कटे-छँटे। तराशे नाक-नक़्श। एक गहरी उदासी। जैसे, अभी किसी मातमपुर्सी से लौटा हो।

उसने आव देखा न ताव, बोला, "तू जानता है बे, अपने को, जो मुझसे पूछता है? तेरा बाप अंग्रेज था या इतालवी, माँ जर्मन थी या डेनिश?...मादरी और फ़ादरी ज़बान तेरी क्या थीं—पता है तुझे?...तू अब 'अमरीकन-इंगलिश' बोलता है और 'अमेरिकन वे ऑफ़ लाइफ़' (अमरीकी जीवन-पद्धति) के दम भरता है। बता तू कौन है, क्यों है, कैसे है?"

...

प्रोफ़ेसर ने कहा, "मेरा नंबर छठा है। तुम पाँचों के बाद मेरी बारी आयगी। तुम खेल में शामिल नहीं होना चाहते; तुम्हारी मर्ज़ी।...हम अमरीकन लोग वैयक्तिक स्वतंत्रता के हमेशा हिमायती रहते हैं।..."

"अच्छा तो ले सुन" आगंतुक ने ज़ोर से हँस कर कहा, "मैं लायोनेल इब्राहीम हूँ। मेरी रगों में 'नेग्रिटो' ख़ून बह रहा है। मेरे माँ-बाप भी ऐसे ही थे, जैसा मैं हूँ।..."

दो मिनट की ख़ामोशी। दोनों एक दूसरे की ओर ताक कर फिर अपनी-अपनी कलाई में बँधी घड़ी की ओर ताकने लगे। दो मिनट पूरे हुए कि आगंतुक ने कहा, "मैं भी तेरी 'आज़ाद दुनिया' का ही एक 'आज़ाद' अमरीकी नागरिक हूँ लेकिन एक भारती 'अछूत' की तरह मुझे अपने सारे हक़ों के लिए अभी तक लड़ना पड़ रहा है।...मुझे ये सारे हक़ अमरीकी विधान ने दिये हैं लेकिन मैं इन्हें भोग नहीं रहा। वजह? 'निजी और वैयक्तिक' के लेबिल के नीचे छिपी हर अमरीकी न्यामत और चीज़ें मेरे लिए ग़ैर और बेगानी बना दी गयी हैं—उन लोगों द्वारा जो अधिकांश अमरीकी क़ानून बनाते हैं, देश की अधिकांश पूँजी पर क़ाबू किये हैं, जिनकी चमड़ी गोरी है पर दमड़ी काली है, उनके दिल में मेरे लिए नफ़रत भरी है।...हमारा यीशु क्राइस्ट भी शायद 'गोरा' नहीं रहा होगा।...पर 'डेविल' (शैतान) जरूर 'गोरा' रहा होगा, जिसके छिपे इशारे पर यीशु की तरह मुझे भी हरदम सलीब पर टाँगा जाता है!..."

टन्...टन्...सात बज गये।

प्रोफ़ेसर चुप रहा।...

आगंतुक भी अब चुप हो गया था लेकिन उठने के बजाय वह वहीं जमा बैठा था।...अब उसकी निगाह कमरे की दीवाल पर टँगी घड़ी पर थी।...घड़ी का 'पेंडुलम' अपनी रफ़्तार से हिले जा रहा था।...

दोनों व्यक्ति इन पाँच मिनटों में बहुत-कुछ सोच गये।

दीवाल-घड़ी की बड़ी सुई बारह से एक पर पहुँचते ही आगंतुक तीसरी बार बोला, (लेकिन उसकी आवाज़ में वही तेज़ी नहीं थी, तुर्शी नहीं थी...एक तरह की अजीब सी पर बहुत ही तीखी बेचैनी थी।) "मैं 'रेड इंडियंस' का 'भाई-बंधु' जैसा 'निगर' हू, और वही रहना चाहता हूँ। गोरे-चिट्टे तुम लोग मुझे, यानी मेरी 'फ़िगर' को अवज्ञा से 'निगर' कहते हो, कहो...। लेकिन मुझे इस बात का फ़ख़्र है कि मैं भी एक अमरीकी हूँ—दुनिया के सब से बड़े धनी देश का सब से ग़रीब बाशिंदा—और मैं सबसे ज्यादा शर्मिंदा हूँ अपने बहुत गोरे देशवासियों की इस हठधर्मिता पर कि वे पीले, ताँबई और काले लोगों को आदमी नहीं, सिर्फ़ 'जानवर' समझते हैं—जानवर भी नहीं, 'कीड़े-मकोड़े' कहो।...मैं आदमी हूँ, आदमी की तरह जीना चाहता हूँ, भीख लेने-देने में मुझे क़तई यक़ीन नहीं। मैं दुनिया की खुशहाली में बराबर का हिस्सेदार होना चाहता हूँ और दुनिया के सारे बाशिंदों को, चाहे वे किसी रंग के हों, अपनी जैसी हालत में ही देखना चाहता हूँ—लेकिन उस हालत में नहीं जो आज है; हालत वह जो कल होगी, और कल नहीं तो परसों या उससे भी किसी अगले दिन तक हो कर रहेगी।"

प्रोफ़ेसर को इशारे की ज़रूरत नहीं पड़ी। यह 'कृष्ण' वक्ता जैसी शान से बोला था वैसी ही शान से चुप भी हो गया।

इस बार जिस व्यक्ति से पूछा गया उसकी मौन-मुखर देह और चपल भाव-भंगिमाएं प्रोफ़ेसर को और हम सब को पहले से ही आकृष्ट किये थीं।...उसका छोटा सा क़द। मुश्किल से पाँच फ़ीट। दुर्बल काया, निर्मल नेत्र। आकृति एक छोर से रखे गये अंडे जैसी पर अनायास अभिवादन के बाद आयी मुस्कान और हल्की हँसी से लुभावनी हो उठी थी। और सभ्यता-शिष्टता के इन सारे आडंबरों के साथ ही कहीं एक गहरे विषाद की छाया उसके सारे व्यक्तित्व पर हावी थी।

एक-दो क्षण कुछ सोच कर वह बोली, "मैं जापान में जन्मी हूँ। नाम बताने से क्या लाभ! मुझे अपना यह पुराना नाम अब अच्छा नहीं लगता। यों इसका अर्थ है— हरियाली। नागासाकी-हिरोशिमा के ध्वंस के बाद जन्मी थी मैं। तेइसवाँ बसंत देखा है अभी। लगता है, आधी अमरीकी हूँ मैं। आज मुझे भी वही सब-कुछ चाहिए जो एक अमरीकी युवती चाहती है। हाँ, अब मुझे वह अपना 'किमोनो', कभी-कभी, भारतीय महिलाओं की साड़ी जैसा प्यारा लगता है।"...

दो मिनट बाद, किसी जापानी गुड़िया की तरह वही फिर चहकी, "नहीं, नहीं...मैं पूरी की पूरी एक जापानी युवती हूँ।...मैं सिर्फ़ अपने सामर्थ्य और मेहनत की कमाई पर जीना चाहती हूँ; मर्द की खेल-गुड़िया, वासना-पुतली, गृह-स्वामिनी होने की कोई गहरी ख्वाहिश नहीं है मुझे अब।...मैं हमेशा जापानी औरत थी और आगे भी एक जापानी औरत ही बनी रहना चाहती हूँ, बशर्ते मेरी यह 'नयी आजादी' इसी तरह क़ायम रहे। सच तो यह है कि अपने बारे में मुझे ठीक-ठीक कुछ भी नहीं मालूम। सिर्फ़ इतना जानती हूँ कि मैं कभी नहीं चाहती कि दुनिया में तीसरा सर्वनाशी खग्रासी महायुद्ध हो और मेरा इतना सुंदर देश, वे नायाब चीज़ें, सभी-कुछ नष्ट हो जायें।..."

पाँच मिनट मुश्किल से बीते कि वह फिर किलकने लगी (आवाज़ ही ऐसी थी शायद!) "मैं सिर्फ़ एक एशियाई प्रेमिका हूँ। मतलब, एक सस्ती जापानी मशीन नहीं जीती-जागती एशियाई प्रेमिका ही बनी रहना चाहती हूँ। मेरा प्रेमी एक अमरीकी है, जिसे जापान अपने देश-जैसा प्यारा है लेकिन मेरे भाई-बहन उसे पसंद नहीं करते। वे नहीं चाहते कि उसका बीज अपने गर्भ में पोसूँ। वे रोज़ कहते हैं, 'अगर तुम उस 'यांकी' को नहीं छोड़ सकतीं तो क्यों नहीं अमरीका चली जातीं। तुम लोग यहाँ क्यों रहना चाहते हो?'...मैं हमेशा के लिए अमरीका नहीं जा सकती। मैं अपने भाई-बहनों को नहीं छोड़ सकती। मुझे उनकी ज़रूरत है।...मुझे अपने देश से बेहद प्यार है। वे मेरी यह कमज़ोरी जानते हैं, इसी से ऐसा कहते हैं।..."

और पाँच मिनट की चुप्पी के बाद वही आवाज़ अचानक बेहद करुण हो गयी, जैसे कोई सुबक रहा हो, "मैं कुछ भी नहीं हूँ।...सिर्फ़ एक मशीन हूँ...। हाँ, सिर्फ़ एक 'ह्यूमन

मशीन'—रॉबट ! मैं क्यों हूँ, क्यहूँ, कैसे हूँ, किसालिए हूँ—यही तो जानना चाहती हूँ।...पर मुझे 'ज़ेन' नहीं, 'क्रिश्चिएनिटी' ज्यादा अच्छी लगती है। मैं 'मरियम' जैसी 'कुमारी माँ' बन सकती हूँ, लेकिन मुझे यह विश्वास नहीं कि मेरी संतान 'ईसा' जैसी होगी।...और मैं उसे सलीब पर भी नहीं टँगने दे सकती ! ..."

इसके बाद वह कुछ क्षण चुप बैठी रही और फिर अभिवादन के साथ सहसा उठी और बाहर चली गयी।

खेल आधा खत्म हो चुका था। कमरे में पूछने को दो व्यक्ति और बाक़ी थे। विदेशी प्रोफ़ेसर चुपचाप वहीं बैठा था। प्रोफ़ेसर का समूचा नहीं तो आधा दिमाग बहुत बड़ी उथल-पुथल में था। शायद वह सोच रहा है—अपने ही प्रश्न का अच्छा-सा उत्तर, जो उसे उपसंहार की तरह अन्य सब के सामने बाक़ायदा पेश करना होगा।...

चौथा व्यक्ति था मैं। मैं बोला, "इस सवाल का कोई जवाब नहीं जानता मैं।" और मैं चुप हो गया। प्रोफ़ेसर थोड़ा अचकचाया।

दो मिनट तक मैं काफ़ी सोचता रहा। पर जैसे मेरे दिमाग़ में सोचने का माद्दा नहीं रह गया था। मैंने फिर अपनी वही बात दोहरा दी।

और वे पाँच मिनट ! न पूछिए साहब, बस यातना थी एक; गहरी पीड़ा थी एक, जिसमें रुलाई और हँसी दोनों घुल-मिल कर एक हो जाती हैं और मुँह से आवाज नहीं निकलती। कंठावरोध ?...जी हाँ, बिल्कुल ऐसा ही कुछ। आखिर, मैंने सिर्फ़ इतना कहा, "आपका ये सवाल, जब से आदमी ने होश सम्हाला है उससे बराबर और बार-बार पूछा जा रहा है।... सारे दार्शनिक, कलाकार, विज्ञानी इसी का उत्तर खोजते चले आ रहे हैं। बहुत-कुछ कहा भी है सबने। किंतु कोई भी जवाब अपने आप में पूरा नहीं, पूर्णतया संतोषप्रद नहीं।... शायद हो नहीं सकता, होना भी नहीं चाहिए। (प्रोफ़ेसर मुस्करा उठा। मेरी बात में शायद कोई ताज़गी नहीं थी !) आज भी इस प्रश्न के उत्तर की खोज, अपने आप की पहचान की कोशिश, बराबर जारी है। मैं भी इस खोज में रहा हूँ, और आप भी हैं। सारी दुनिया के समझदारों का यही हाल है। इसके बावजूद, मैं यही कह सकता हूँ कि मैं अभी तक कुछ नहीं जान सका कि आखिर मैं कौन हूँ, क्या हूँ, क्यों हूँ, कैसे हूँ और किसलिए हूँ !..."

और अपनी यह बात पूरी होते ही मुझे लगा कि जैसे किसी ने मेरे मुँह पर कालिख पोत दी थी, ज़बान पर ताला जड़ दिया था। 'मैं' खत्म हो चला था।...

पाँचवीं बारी पड़ी किमसुन की। वही उत्तरी कोरियाई अधेड़ जवान, जो 'स्वयंसेवक' बन कर उत्तरी विएतनाम जा रहा था।

मेरी मित्रता हुई थी इससे १९५० में, जब मैं अपने अखबार के लिए उत्तरी कोरिया भेजा गया था। यह नहीं बताने से भी चलेगा कि आज किमसुन यहाँ कैसे पहुँचा।

उसने बा-अदब खड़े हो कर अपना जवाब यों दिया, "मैं आपकी क़ौम का गहरा दुश्मन

हूँ, प्रोफ़ेसर साहब। आपकी क़ौम ने मुझ पर, मेरे देशवासियों पर बहुत बर्बादी बर्पायी है। पूरी क़ौम ने नहीं तो उसकी चुनी हुई सरकार ने सही; हुआ यही है चूँकि मौजूदा राजनयिकों की जमात को बहुमत दे कर सरकारी तंत्र पर क़ाबू करने देने के लिए आप जैसे लोग उत्तरदायी हैं। आपने इनमें से किसी को वोट नहीं दिया—मैं यह नहीं मान सकता। . . .यों आपके देश में कुछ आदमी सच्चे मानी में इन्सान जन्मे थे। एक ने कहा था—'हमें मिट जाना पसंद है पर अपने संघ का बँटवारा पसंद नहीं। और हमें यह गुलाम-प्रथा भी मिटानी है—चाहे कुछ भी हो।'. . . और दूसरे ने कहा था—'हमें किसी भी राष्ट्र या देश के हिंसालु-घरेलू झगड़ों में नहीं पड़ना।'. . . और एक तीसरा था जो लायोनेल इब्राहीम जैसा ही काला-कलूटा था। पर सचमुच 'किंग' था। वह अमरीकी गांधी था। मानवीय अधिकारों की मर्यादा के लिए वह सिर उठा कर चलता था। अपने विरोधियों का सिर कुचल कर नहीं, दिल जीत कर उसे घृणा और वैर मटियामेट करने थे। . . .और वह चौथा, जिसका खून आज भी तुम सब के सिर पर चढ़ कर बोल रहा है; जो ज़िंदा रहता तो शायद मेरे जैसे और भी कुछ स्वयंसेवक उत्तरी विएतनाम जाने को कमर नहीं कसते। इन सब को तो मार डाला गया चूँकि कुछ लोग सारी दुनिया के राष्ट्रों के हिंसालु-घरेलू झगड़ों में 'सर-पंच' बने रहना चाहते हैं। कुछ ग़द्दारों से मिल कर कोरिया के दो टुकड़े आपकी सरकार ने कराये थे। जैसे अंग्रेज़ों ने कुछ 'इंडियनों' से मिल कर 'इंडिया' के दो टुकड़े करा दिये थे और जब तक ये दोनों टुकड़े रहेंगे ये देश एक-दूसरे के दुश्मन बने रहेंगे; टुकड़ों को मोहताज और तबाह रहेंगे। . . .आपकी सरकार ने बहुत चाहा था कि चीन के भी दो-तीन टुकड़े हो जायें पर वहाँ उसने मुँह की खायी और अब वह इस तथ्य को ज़बर्दस्ती झुठला रही है। . . .जर्मनी के दो भागों को भी आप कभी एक नहीं होने देंगे। . . .विएतनाम को बँटवारे के गढ़े में ढकेल ही चुके हैं। . . .आप दक्षिणी विएतनाम को दक्षिणी कोरिया ही बनाये रखना चाहते हैं। सारी दुनिया में अपनी सियासी और माली धाक जमाये रखने की आपकी बेताबी के लिए शायद यह ज़रूरी है कि हर क्षेत्र में आपका एक पिट्ठू 'राष्ट्र' ज़रूर हो। . . .समूचे अरब प्रदेश में जैसे इज़राइल; भारत अंतरीप में पाकिस्तान! कितने नाम और गिनाऊँ? . . .

"माना कि आपकी क़ौम की अदम्य इच्छा अमरीका को संसार का सबसे ज़्यादा धनी देश हमेशा बनाये रखने की है और इसीलिए आपकी सरकारें सब को 'संत्रस्त' रखती आयी हैं। सारे पिछड़े देशों में आपको अपनी 'साख' और 'बाज़ार' चालू रखने हैं—सिर्फ़ अपने उद्योग-धंधे की वस्तुओं के निर्यात के लिए नहीं 'दिन दूनी रात चौगुनी' बढ़ती पूँजी की लागत के लिए! 'सुविनियोगात्समृद्धिः' भारत के 'यूनिट ट्रस्ट' के इस 'स्लोगन' का असली मतलब सिर्फ़ आपने ही तो समझा है। . . .सबको अपना पावनादार बनाओ—आपकी हर सरकार के कर्ता-धर्ता-हर्ताओं का यही नारा रहा है। आप भूख से मारों को अन्न देते हैं तो उनकी 'आज़ादी' छीन कर। . . .अपने यहाँ भूख से मरने वालों की फ़िक्र नहीं करते। वे तैंतीस मिलियन अमरीकी ग़रीबों की परवाह नहीं है उनको। . . .लेकिन याद रखिए, हम उत्तर-कोरियाई, चीनी, और हमारे बहादुर दोस्त कम्यूनिस्ट विएतनामी और विएतकांगी आपसे हमेशा लड़ते रहेंगे—जब तक हमारे दम में दम है। . . .रूस और दूसरे सारे कम्यूनिस्ट देशों को भी एक-न-एक दिन हमारी

खुल्लम-खुल्ला मदद करनी पड़ेगी—अब जितनी हो रही है उससे कहीं ज़्यादा। बेशुमार।... और यह तो तीसरा विश्वयुद्ध ही तय करेगा कि कौन सा उसूल सब से ज़बर्दस्त माना जाय। पूंजी एकत्र करने और उसके विनियोग की अधिकाधिक छूट का उसूल आपका है। श्रमिकों के शोषण की समूची और ज़ोरदार रोकथाम हमारा उसूल है।...देखें, इन दोनों में से आख़िर तक कौन जीतता है?"

पाँच मिनट बाद !

"बस, मेरा यही परिचय है। मैं एक अविराम योद्धा हूँ, श्रमिकों के शोषण-तंत्र के ख़िलाफ़ मैं आजीवन लड़ता रहूँगा—चाहे वह लड़ाई दुनिया के किसी भी कोने में हो रही हो। आपकी तरह सारी दुनिया मेरी भी है पर यूँ पूंजी की अबाध लागत कर के ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने के लिए नहीं; श्रम और बुद्धि के उचित विनियोग, सहयोग और प्रयोग से अपनी और अपने ही जैसे सब देशों की खुशहाली के लिए, सारी दुनिया में भाइचारे के लिए। तुम्हारा देश, और अब तुम्हारी देखा-देखी रूस भी, हथियारों का व्यापार क़ायम रखने के लिए एशिया में हमेशा लड़ाई के बादल छाये रखना चाहते हैं। लगता है जैसे अपनी खुशहाली क़ायम रखने की सिर्फ़ एक ही तरकीब जानते हो तुम लोग—दूसरों की बर्बादी, लड़ाई में लगे धन, जन, तन, मन की बर्बादी। लेकिन तुम भी बचोगे नहीं इससे...।"

वह इतना उत्तेजित हो उठा था कि कुछ क्षणों के लिए बाहर जा कर फिर वापस आया।...

कुछ ही क्षणों बाद वह जापानी युवती भी बाहर से आ गयी और फिर हम सब के सामने उस प्रोफ़ेसर ने अपना क़लाम यों पेश किया, "सोचा तो यह था कि आप सब लोग ऐसे एक नितांत निजी प्रश्न का उत्तर अपने निजी अनुभव से ही देंगे और अपने 'मैं' के ऊपर से समाज, देश, राजनय आदि की लदानें उतार फेकेंगे; पर ऐसा नहीं हो सका। शायद यह नामुमकिन ही है...। हमारे व्यक्तित्व के अन्य सारे पहलू भी हमारे हैं; 'हम' हैं—इनमें से मात्र कोई एक 'हम' नहीं है। किंतु किसी एक को छोड़ कर हम अपने का, समग्र रूप का ठीक अंकन भी कैसे कर पायँगे?... अतएव व्यक्तित्व के कुछेक पहलुओं के साथ अपनी 'टोटैलिटी' (समग्रता) का 'आईडेंटिफ़िकेशन' (तादात्म्य) कर के प्रस्तुत प्रश्न का ठीक जवाब नहीं दिया जा सकता। लेकिन अक्सर हम ऐसा ही करते है—और अपनी समग्र सत्ता के समूचे अवबोध से हमेशा दूर रहते हैं...अपना उत्तर देने से पहले मैं एक विनम्र निवेदन करता हूँ। विशेषतः अपने ही देशवासी 'काली चमड़ी वाले' लायोनेल से कह रहा हूँ यह मैं। ..हम इस खेल में शामिल हुए हैं तो नितांत वैयक्तिक स्तर पर। रंग, जाति, मत, संप्रदाय, धर्म, सेक्स, पेशा, आकृति-वैशिष्ट्य और भेद, सांस्कृतिक परिवेश से पैदा हुई समताएं और विषमताएँ हमारे इस खेल में बाधाएँ क्यों बनें? यह ठीक है कि हमारी समूची पीढ़ी अपने पूर्वजों की भयंकर ग़लतियाँ न सुधारेगी तो उसे भयावह परिणाम भुगतने पड़ेंगे और वह अपने से बाद की पीढ़ी के प्रति 'दायी' भी रहेगी।...एक विचारशील प्राणी के नाते हम अपना सारा दायित्व 'वोट' दे कर ही ख़त्म नहीं कर लेते। अगर हमारे चुने प्रतिनिधि राज-सत्ता पाते हैं तो उनकी ग़लत-सलत कार्रवाइयों के लिए भी हमीं दायी हैं।...मैं अक्सर सोचता

हूँ कि आज की लोकतंत्री राजनयिक दलबंदी वाले तरीक़ों में कोई ऐसा तरीक़ा भी संभव हो सकता है कि बहुमत से चुने गये लोक-प्रतिनिधियों को चुनने वाले उनकी ग़लत कार्र-वाइयों के लिए उन्हें ज़िम्मेदार ठहरा कर तुरंत प्रतिकार कर सकें। आजकल यहाँ, यानी भारत में, इस सवाल पर कितने दिमाग़ सोच रहे हैं। 'आया राम' और 'गया राम' या 'दल-बदलुए' भारतीय लोकतंत्र को समाप्त करने पर तुल आये हैं, यह कौन नहीं महसूस रहा?...मेरा यक़ीन है कि भविष्य में अगर लोकतंत्र को ज़िंदा रहना है तो ऐसा कोई तरीक़ा ज़रूर निकलेगा और तब राजनयिक प्रतिनिधियों पर केवल दलीय नेतृ-नियंत्रण ही नहीं, वोट-दाताओं का भी तुरंत दंड-विधान चल सकेगा।. . ."

प्रोफ़ेसर कुछ क्षण चुप रहा। फ़िर सिगरेट सुलगा कर बोला, "मैं इस खेल को कई देशों के नागरिकों के साथ––समाज की सभी श्रेणी और स्तर या वर्ग के व्यक्तियों के साथ––खेल चुका हूँ। हर जगह मैंने जो अपना जवाब दिया वह पहले से कुछ घटता-बढ़ता रहा है। मैं बराबर सोचता रहा हूँ और अपने जाने अपने विचारों को––युक्ति-अनुभूति की रोशनी में––सुधारता आया हूँ।. . .अपनी डायरियों की अच्छी जाँच-पड़ताल के बाद अभी तक येही तथ्य मेरे हाथ लगे हैं।. . .हर देश के लोगों ने मुझे कुछ सिखाया है, मेरे इस 'मैं' के निर्माण में अनेक संस्कृतियों का हाथ है, अब मैं सिर्फ़ 'अमेरिकन वे ऑफ़ लाइफ़' की बात कभी नहीं करता। कभी-कभी तो मुझे यही सवाल कचोटता है कि मैं केवल 'अमरीकी नागरिक' हूँ या 'विश्व-नागरिक'?...लेकिन अमरीका की अर्थशक्ति का प्रभुत्व सारी दुनिया में हो––इस दृष्टि से मैं 'विश्व-नागरिक' नहीं होना चाहता, बल्कि मैं तो यह सोचता हूँ कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चरम-सीमा––ख़ालिस राजनयिक दृष्टि से भी एकमात्र यही हो सकती है।. . .हम सब अपने देश, काल और संस्कृति की परिस्थितियों, परंपराओं, रीति-रिवाजों और जिस्मी ख़ूबियों-खामियों के ऐसे बंदी बन गये हैं कि हमें अपने बंदीपन का बोध ही नहीं होता, याने इनसे मुक्ति के लिए हमारा कोई सजग प्रयत्न प्रायः नहीं होता। उल्टे, हम इन बंधनों की सीमाओं की रक्षा के लिए ही जीवन की बलि देने और लेने से कभी नहीं चूकते।. . .

"जीवन की परिस्थितियों का, पृष्ठभूमि की बाध्यताओं का मूल्य समूचे जीवन से भी बड़ा हो जाता है। किसी भी विश्वास, धारणा या विचार से हमारा अपना तादात्म्य इस हद तक हो उठता है कि उसी को हम अपनी 'वैयक्तिक सत्ता' समझ बैठते हैं, जब कि, वास्तव में, वह तादात्म्य नितांत निर्वैयक्तिक अथवा व्यक्ति-प्रसूत होता है।. . .अगर हमें अपने को हमेशा अपनी परिधियों में जकड़े पशुओं से ऊपर उठना है तो किसी भी क्षण यही बोध क्यों न बना रहे कि हमारा परिचय केवल वही नहीं जो हम अक्सर देते रहते हैं––जैसे, भारती, उत्तर कोरियाई, जापानी, अमरीकी; अथवा––आदमी, औरत, डॉक्टर, वकील, प्रोफ़ेसर, अफ़सर, किसान, मजूर; धनी, मध्यवित्त ग़रीब, भिखमंगा; चोर, उचक्का, उठाईगीरा; ईसाई, हिंदू, मुसलमान, बौद्ध, सिख, जैन, चार्वाकी; पूँजीवादी, कम्यूनिस्ट, नात्सी या फ़ासिस्ट; दक्षिणपंथी, वामपंथी; उदार, अनुदार; परंपरावादी, अत्याधुनिक, आदि, आदि।. . .हम यह क्यों भूल जायँ कि ये सारे लेबिल या विशेषण ही तो हमारे सर्व-सामान्य 'मैं' या 'व्यक्ति' को ढँक लेते हैं और हम दूसरों से अपनी नज़दीकियों को न

पाटी जाने वाली दूरियाँ बना डालते हैं, जब कि विज्ञान ने हमारे लिए सामान्यतया यह संभव कर दिया है कि हम प्रतिक्षण एक-दूसरे के साथ परिचय और आलाप-संलाप कर सकते हैं। . . . 'मैं' का विलयन किये विना भी 'हम' बन सकते हैं। . . .

"हमें बचपन से कैशोर्य समाप्त होने तक अपने परिवेश पर संपूर्णतया निर्भर रहना पड़ता है। माँ-बाप को हमारा लालन-पालन संसार के अन्य प्राणियों के शिशुओं की अपेक्षा बहुत अधिक दिनों तक करना पड़ता है। हम एक विशेष समाज और संस्कृति के रूप में अपने सदा-साथी 'अतीत' से जुड़े रहने को बाध्य होते हैं। हमारी रुचियाँ, आदर्श, धारणाएँ, विश्वास, मूल्य, नैतिक मान्यताएँ—सभी बचपन से गढ़ दी जाती है; कुछ विशेषताएँ भी हमें, एक हद तक, विरासत में मिलती हैं। पर इन तथ्यों के बावजूद क्या हमारी शिक्षा-दीक्षा (जहाँ वह आधुनिकतम स्तर के ज्ञान-विज्ञान से संभरित हो) हमें हरदम यह सोचने को बाध्य नहीं करती कि ये सारी आवर्जनाएँ हमारे विकास की एक सीमा तक ही काम्य थीं; हमेशा, हर जगह इन्हें अपने चारों ओर लगाये रखने या वहन करते रहने की कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं है ? . . . मात्र व्यक्तित्व का विकास (विस्तार) भी इससे रुक जाता है। जब हम केवल व्यक्तिगत स्तर पर सोचते या बर्ताव करते हैं तब क्या इन सारी आवर्जनाओं की विवेचना भी करते हैं ? अचानक किसी के प्रेम में पड़ते वक़्त पहले यह सारा ऊहापोह कौन करता है ? . . . नितांत वैयक्तिक स्तर पर किसी को अत्यंत पीड़ित देख कर तुरंत उसके भले के लिए हमारी अंदरूनी छटपटाहट यह सब कहाँ सोचने देती है ?—तब तो भाषा न समझने पर भी हम इशारों से काम चलाने को व्यग्र-व्यस्त हो उठते हैं; तीव्र आतुरता रहती है पीड़ित की पीड़ा कम करने की, दर्द-पीर हटाने की। . . . उस वक़्त अथवा पारस्परिक तीव्र और आत्महारा प्रेम के निविड़ क्षणों में जो तन-मन का आदान-प्रदान होता है वह हमें, हमारे प्रकृत स्वरूप को, उद्भासित नहीं करता क्या ? . . . यही बात किसी भी ज्ञान की साक्षात्कारिता या आत्मसात करने की स्थिति में होती है। 'ज्ञानोदय' के क्षण में सहसा हमारे 'मैं' पर लदी सारी आवर्जनाएँ स्वतः कट-सी जाती हैं। किसी भी क्लब के अंदर और बाहर मैदान में पूरी तन्मयता के साथ खेलते वक़्त भी हमें अपने इसी स्वतंत्र 'मैं' की अनुभूति हो सकती है—बशर्ते वह खेल पहले से ही देशों के नाम से होने वाली प्रतियोगिता न बना दिया जाय।

"देखिए न राजनयिकों की चतुराई ! खेल-कूद की हार-जीत के अनाविल आनंद के क्षणों को भी वे दूषित कर डालते हैं—'राष्ट्रीयता' का चोग़ा पहना कर। एक देश की टीम दूसरे देश की टीम से हार गयी तो लोग समझते हैं हारने वाले देश के माथे पर कलंक लग गया; उसका सिर नीचा हो गया। . . . और जीतने वाले शहरों में कभी-कभी तो दफ़्तर के कर्मचारी-गण आधे दिन की छुट्टी पा जाते हैं ! . . .

"व्यक्ति 'मैं' को यौथ या सामुदायिक 'मैं' से 'एक' बना देने वाली यह सामान्य प्रवृत्ति अन्य प्राणियों के और मानवीय मनस्तत्व के अनुसार बिल्कुल ठीक है। हमारे बचने के लिए यह ज़रूरी है कि हमारा यूथ या समुदाय बचा रहे, चूँकि हम नितांत अकेलेपन में संजीवित-संवर्धित नहीं होते-रहते। पर यह भी तो सोचिए कभी-कभी कि हर दिशा में, हर वक़्त यही सामूहिक

तादात्म्य हर 'व्यक्ति' पर क्यों लदा रहे? . . .युक्ति-संगत यह भी तो लगता है कि हम अपनी जाति के बड़े से बड़े समुदाय--यानी, संसार के मानव-समुदाय--के साथ अपने 'मैं' को 'एक समझें। किंतु यह शायद व्यवहार्य नहीं हो पाता है। इसे अभी तो राष्ट्र या देश तक ही सीमित' रखना पड़ता है और तब अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वैषम्य और असंतुलित विकास की स्थितियाँ अनिवार्य हो जाती हैं। जैसे, एक राष्ट्र या देश में रहते व्यक्तियों में सबल दुर्बल का और गुणी मूर्ख का शोषण करता है, केवल अपनी सुख-सुविधा और स्वच्छंदता और अस्तित्व की रक्षार्थ। बहुत हुआ तो इस अपने 'मैं' में वह 'अपने परिवार' को शामिल करता है और अपने कुछ मित्रों को भी। कहना मैं यह चाहता हूँ कि व्यक्ति 'मैं' के तादात्म्य का अनुभव सारे विश्व-ब्रह्मांड और जीव-मात्र के स्तर पर हुए बिना एक अंतर्विरोध की स्थिति हमेशा बनी रहती है और व्यवहार में वही स्थिति 'मैं' का यह बोध भी अपने जानदार, ज़िंदादिल जिस्म तक होने देती है। नतीजा, केवल इसी 'मैं' की स्वार्थ-सिद्धि के प्रयत्नों का क्रूर एवं नग्न-नर्तन होता है।...सारे देशों के राजनयिक लोग 'क़ौम' या 'देश' के नाम पर पहले अपना उल्लू सीधा करते नज़र आते हैं। . . .

'मैं' की तलाश में इन दोनों—समाज और 'अकेले व्यक्ति' के—छोरों पर टिके 'मैं' का अहसास बार-बार हुआ है मुझे। . . .बीच की हालत हमेशा भयंकर लगती रही है, चूंकि वह सर्वहित या असली 'मैं' की भावना कभी नहीं पनपने देती। . . .'मैं' का अनुभव 'सर्व' के ही एक क्षुद्रतम अंश के रूप में कभी नहीं होने देती। . . .समग्रता के जीवंत अनुभव से दूर रखती है। . . . अपने 'मैं' को मैं एक चेतन व्यक्ति मानता हूँ। इसकी पृथक सत्ता या स्वतंत्र अस्तित्व का भान हमें 'सर्व' पर आश्रित इकाई-सा नहीं होता। किंतु वास्तव में यह कोरा भ्रम है। सचाई यही है कि यह 'मैं' इस समूचे विश्व-ब्रह्मांड का एक नगण्य और समझने के लिए क्षुद्रतम अंश मात्र है, ज़र्रा है। और वह है भी तो सिर्फ़ इसीलिए है कि यह विश्व-ब्रह्मांड भी अभी है। यदि वह अपनी या अपने जैसे कुछ अंशों की सत्ता बिल्कुल अलग स्थापित करने की चेष्टा करता है और अपने और इन कुछ अंशों के हित-चिंतन को ही सर्वोपरि समझता है तो वह निश्चित तौर पर धीरे-धीरे मृत्यु-पथ की ओर बढ़ने लगता है। . . .समग्र विश्व-ब्रह्मांड उसे जल्दी ही आत्मसात कर लेता है। . . .एक इकाई के रूप में उसका अपना बल या छोटे-छोटे समुदायों के साथ मिल कर बड़ी इकाई में परिवर्तित हुआ बड़ा रूप और बड़ा बल भी; अधिक नहीं टिकते। सारा इतिहास इसी ज्वलंत सत्य की परिपुष्टि करता है। . . ."

प्रोफ़ेसर चुप हो गया तो लगा, हमें अपने-अपने 'मैं' से आज एक मुक्ति-सी मिल गयी है। मैं सोच रहा था. . .लगता है, यह प्रोफ़ेसर नये भारत की पुरानी अबोहवा में 'भारती' बन गया है। 'मैं' की तलाश में बेचारा 'अपनेपन' (मैं) को भी हारना चाहता है! . . .शायद एक नया मुल्ला अल्ला-अल्ला पुकार रहा है। . . .शायद ही मानव 'मैं' की ऐसी परिणति हो कभी। . . .अभी तक तो कहीं नहीं हुई है!......"ब्रह्म' ' और 'मैं' को एक कहने वाले हम भारती भी वास्तव-जगत में 'क्षुद्र मैं' के ही अधीन रहे हैं। आज भी भारत में 'मैं' की तूती बोल रही है। 'तू-तू-मैं' की कटुतम स्थिति है। . . .विश्व-सरकार, विश्व-संघ, राष्ट्र-संघ, विश्व-बंधुत्व, मानवतावाद, सभी तो 'फ़ेल' हो चुके हैं। वास्तव में, यह मानवीय

'मैं' कभी पूरी तरह 'आज़ाद' नहीं हुआ।...क्या कभी उसकी यथार्थ परिस्थिति या प्रतीति सब के लिए संभव होगी?...प्रोफ़ेसर ने जैसा कहा है 'मैं-पन' का ऐसा विस्तार या विकास सार्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वदेशिक स्तरों पर तो आज भी एक आदर्श मात्र है—ऐसा 'मैं' अनुभव में और व्यवहार में आने वाला 'तथ्य' या 'स्थिति' नहीं है।...इसकी उपलब्धि क्या सर्वत्र-सदा-सबको कहीं होती है?...

घड़ी ने नौ बजाये और हम 'डिनर' की टेबिल पर अपने-अपने 'मैं' की तुष्टि-पुष्टि में पिल पड़े।...

रामाधार, जो बहुत देर से कुछ सोच रहा था, बोला, "प्रोफ़ेसर, हमारी यह 'मैं' की तलाश पूरी हुई हो या नहीं, दो बातें मेरे सामने दर्पण-सी साफ़ हैं। नंबर एक, मैं अगर मशीन नहीं हूँ तो इसलिए कि मेरी कुछ मूलभूत विश्वजनीन मान्यताएँ या मूल्य हैं जिनके बिना यह 'मैं' गोरखधंधे के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं रहता। जैसे, मानवीय प्रेम और करुणा, नितांत वैयक्तिक संबंध, स्निग्ध, कोमल, निविड़ मनोभाव।...नंबर दो, 'मैं' का कोई भी बोध शेष सृष्टि के साथ इतना संश्लिष्ट-संपृक्त रहता है कि उसके बिना वह संदर्भहीन शब्द की तरह निरर्थक हो जाता है।"

शायद रामाधार और भी कुछ कहता पर तभी वह जापानी 'अनामिका' जी चहक उठीं—(नाम का अर्थ 'हरियाली' बताया था, सो कहिए—लहलहा उठीं!), "मैं भी आपकी बात की ताईद करती हूँ, चाहे हमारे इन मानवीय मूल्यों का अस्तित्व कोरी कल्पना ही क्यों न हो। हम जापानियों से अधिक अभी इस बात की तीव्र अनुभूति या उपलब्धि किसको हुई है? ज्ञान-विज्ञान की आधुनिक समृद्धि अपने आप में महनीय है पर उसे मानवीय मूल्यों के बिना पाना बिल्कुल बेकार है। हिरोशिमा और नागासाकी के हत्याकांड इसके गवाह हैं। जापान में 'ज़ेन' का अधिकाधिक प्रचार इसी की ताईद करता है।..."

प्रोफ़ेसर को इस समर्थन ने चौंका दिया। उसने जापानी 'अनामिका' को बड़ी कोमल दृष्टि से देखना शुरू किया। लेकिन तभी उस काले आदमी ने फिर एक बार रंग में भंग किया, "मैं अपनी पहली राय पर ही अब भी क़ायम हूँ। यह सब सिर्फ़ एक 'बकवास' है। यहीं इंडिया में आ कर मैंने एक कहावत सुनी है—'हाथी के दाँत खाने के और, दिखाने के और।' यह ठीक ऐसी ही मिसाल है एक।" उसने बड़े ज़ोर से कहा।

प्रोफ़ेसर चुप रहा जैसे उसने कुछ सुना ही नहीं। आखिर तक उस उत्तरी कोरियाई से भी न रहा गया, बोला वह, "मिस्टर 'नो दाई सेल्फ़', मैं भी अपनी बात बदलने को तैयार नहीं। अगर तुम यह बात अपने राष्ट्रपति जॉन्सन को समझा सकते और कैनेडी भाइयों की तथा मार्टिन लूथर किंग की हत्याएँ न हुई होतीं तो शायद हम सब यह बात मान लेते कि अमरीकी अपने 'मैं' को समझ चुका है।"

प्रोफ़ेसर ने बीच में ही कहा, "अमरीका के अधिकांश प्राध्यापक, कलाकार, लेखक, छात्र, युवक, वर्तमान विएतनामी युद्ध में अमरीकी सरकार की कारगुज़ारियों के खिलाफ़ हैं।

वे ऐसी राय ही इस बार सामूहिक रूप में 'अपील' में दे चुके हैं। इस बार तो कानूनदाँओं की एक जमात ने भी इस युद्ध को 'नाजायज़' करार दिया है। हममें से कोई नहीं चाहता कि अमरीकी युवकों का ख़ून--शक्ति, बुद्धि-बल और ज़िंदगी—किसी भी बेकार के काम में ज़ाया हो। हम जानते हैं, चियांग काई शेक को इतनी ज़्यादा फौजी मदद दे कर भी हम चीन के मुख्य और बहुत बड़े भाग को कम्यूनिस्ट होने से नहीं बचा सके। ताइवान (फ़ारमोसा) में भी आज हमारे ख़िलाफ़ प्रदर्शन और तोड़फोड़ हो रही है। कल यहाँ भी ऐसा नहीं होगा, इसकी क्या गारंटी है ?"

मैंने 'डिनर' के अंतिम 'कोर्स' को उदरस्थ कर कहा, "अगर आप इजाजत दें तो, प्रोफ़ेसर साहब, मैं कुछ कहूँ। अमरीका को यह आपकी 'थिअरी' या यह 'मैं-तलाश-वाद' सारी दुनिया में अपनी सारी महाशक्तिशाली 'पब्लिसिटी कंपनियों' और 'ऐड एजेंसियों' द्वारा प्रचारित करना चाहिए। कम ख़र्च और बालानशीं ! . . .लड़ाई में जो ख़र्चा हो रहा है उससे आधे बज़ट में ही यह 'प्रोग्राम' पूरा हो जायगा। न केवल अमरीका, बल्कि दूसरे बहुत-से-राष्ट्र भी 'मैं तलाशवाद' के समर्थक हो जायेंगे; हर जगह की 'मैं-मैं और तू-तू' का खात्मा हो जायगा। चाहें तो आप हर देश के अपने प्रचारक नियुक्त करने के लिए उन्हें ब-शौक़ अपने यहाँ प्रशिक्षणार्थ बुलायें और देश-देश में जमा हो रहे 'पी, एल ४८०' के धन से इस 'मैं तलाश-वाद' के शिक्षा-केंद्र खुलवा दें, सारी दुनिया में आपकी फ़तेह हो जायगी ! हाँ, भारत में भी इसके प्रचार के लिए मौजूं वक़्त है। रूस पाकिस्तान को फौजी मदद दे रहा है और अमरीका अपनी चौकी पेशावर से हटाने वाला है, कश्मीर के मामले में आप लोग उतने मुँहज़ोर नहीं हो रहे हैं अतएव यही उचित अवसर है। इलेक्शन के बाद के 'मैं' के सारे अंतर्भेदों के उजागर होने से यहाँ अब एकता-बोध की सरगर्मी जारी है। बिहार में, उत्तर प्रदेश में, बंगाल में, केरल में खाद्य-कष्ट अभी लोगों को उतना नहीं व्याप रहा। मिली जुली सरकारें सिर्फ़ उड़ीसा और केरल में चल रही हैं। (कब तक ??)। पंजाब की सरकार भी लद गयी। मध्यप्रदेश की सरकार दिन गिन रही है। . . .इन दिनों आप और आपके साथी घूम-फिर कर ऐसा 'डेटा' एकत्र या निर्मित कर सकते हैं, जिससे लोगों को—(सभी को)--उनके 'मैं' की उपलब्धि करने में काफ़ी 'प्रेक्टिकल हेल्प' मिले। . . .रुपये खर्चिए तो यहीं आजकल सब कुछ हो सकता है। वैसे व्यास ने भी कहा है, 'महाभारत में—अर्थस्य पुरुषो दासः' यानी मैन (आदमी) मनी (अर्थ) का स्लेव (दास) है ! . . ."

डिनर के बाद 'कॉफ़ी पान' में हम लोग अपने-अपने 'मैं' की विचारणा और चर्चा में ही लगे रहे थे, सो यह 'अ-कहानी' भी अब खत्म ही समझें।

पुनश्चः—

इस अ-कहानी के सारे वक्तव्य प्रोफ़ेसर (जो अपना नाम-पता न देने का वायदा करा चुके हैं !) से उनका टेप-रिकार्डर उधार ले कर नोट किये थे, अतः उन्हें हार्दिक धन्यवाद !

--४८/५२, स्विस पार्क
कलकत्ता—३३।

प्रेम लाल भट्ट

नया साहित्य युग-बोध या युग-भ्रम

यों तो कविता, कहानी, आलोचना यानी साहित्य की लगभग सभी विधाओं के प्रसंग में आज नवीन और पुरातन को ले कर अखाड़ेबाज़ी चल रही है परंतु कुछ दिनों से कहानी का मंच ज़्यादा सक्रिय लग रहा है। इस 'फ़्री स्टाइल रेसलिंग' का प्रभाव न उस तथाकथित नवीन पर पड़ा या पड़ रहा है और न पुरातन पर। उससे सर्वाधिक जो प्रभावित हुआ है वह है बेचारा पाठक वर्ग। यदि पाठक आज किसी रचना को ईमानदारी से पढ़ता है तो उसकी इच्छा पढ़ने से संन्यास लेने की होती है और यदि 'बेमानी' पढ़ता है तो उसकी प्रबुद्धता को एक भारी चुनौती मिलती है। आज इस संक्रामक रोग ने पुरानी पुस्तकों पर नयी जिल्दसाज़ी करना भी कठिन बना दिया है।

लगभग हर रोज़ समाचारपत्रों में किसी उपेक्षित कालम में किसी गोष्ठी, संगोष्ठी आदि की दकियानूसी ख़बर पढ़ने में आ ही जाती है। कहावत है खाली बैठ शैतानी सूझे। साहित्यकार और निठल्ले में भी ताल-मेल बैठ सकता है, यह एक नया अनुभव है जिसका अस्तित्व उतना ही सत्य है जितना आज की नयी कविता, नयी कहानी आदि का। होली के जैसे इन उत्सवों में कविता और कहानी आदि पर बढ़-चढ़ कर बातें होती हैं। और कविता और कहानी ही क्यों जिसके विषय में अधिक चर्चा होती है वह है अकविता और अकहानी। स्वभावतः वह चर्चा भी तब चर्चा की अपेक्षा अचर्चा अधिक होती है।

वकीलों का काम होता है सच को झूठ और झूठ को सच बनाने का। और ये साहित्यिक वकील इन गोष्ठियों में वही काम कर रहे हैं। आज की ये गोष्ठियाँ अनायास किसी मध्यकालीन टुटपुँजिये सामंत के दरबार की याद दिला देती हैं। ये गोष्ठियाँ भी उन दरबारों से भिन्न कुछ नहीं।

इन महफ़िलों में आधुनिक शिल्प, बदलते हुए जीवन-दृष्टिकोण, आधुनिकता, प्रतिबद्धता, युग-बोध, युगीन संदर्भ, ईमानदारी आदि जैसी तकनीकी शब्दावली से अपना पक्ष प्रतिपादित किया जाता है। परंतु ये नौसिखिये वकील अपनी दलीलों की चूहेदानी में खुद को ही जकड़बंद पाते हैं और तब अपनी खीझ उतारने के लिए लोहे की स्वनिर्मित सीकों को काटने का असफल प्रयत्न करते हैं।

शिल्प में नवीनता निस्संदेह स्तुत्य है और विकास की स्वस्थ परंपरा भी यही होनी चाहिए। परंतु विकृति को विकास मान लेना लेखक, पाठक और साहित्य तीनों के लिए दुर्भाग्य-

पूर्ण है। आज साहित्यकारों में नयी-नयी विधाओं का प्रवर्तक बनने का श्रेय अर्जित करने के लिए बड़ी आपा-धापी मची हुई है और इस आपाधापी के क्रम में शिल्प के नाम पर जो या जैसा मन में आया, लिख देने को ही नया शिल्प का नाम दिया जा रहा है। सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यह है कि इस व्यर्थ और अनर्गल के आविष्कर्त्ता स्वयं ही उसके पारखी या आलोचक भी बन गये हैं। कहीं-कहीं पर तो वे उस तथाकथित नूतन शिल्प के ब्रह्मा, विष्णु और महेश सभी कुछ बन बैठे हैं। पहले रेखाएँ खींचते हैं फिर उनका अभिप्राय स्वयं ही स्पष्ट करने के बाद मूल्यांकन करने लग जाते हैं और अंत में अपने उस निहित स्वार्थ को अपने ही द्वारा संपादित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी कर देते हैं। अभी तक 'अ' बनने की झख हमारे प्रसाद, पंत की आवारा संतान को ही थी अब यह प्रेमचंद, शरत, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री आदि की संतानों को भी हो गयी है। आज के इस तथाकथित नवीन शिल्प का शिल्प-रचना को दुरूह बनाने में है। परंतु सच तो यह है कि उनके पास यदि कुछ कथ्य होता तो उसकी अभिव्यक्ति के लिए वे सरलता की आवश्यकता अनुभव करते। उनका कथ्य ही ऐसा है जिसे सरल, सुगम अथवा सुबोध भाषा में अभिव्यक्त करने में वे स्वयं लजाते हैं। अतः उसे दुरूह बना कर अपने ही खेमें में वाह-वाह लूटने के अतिरिक्त उनके पास मार्ग भी क्या है। जहाँ जीवन का हेय पक्ष या मानव की लघुता, कुंठाएँ, वर्जनाएँ ही उसके जीवन का एकमात्र यथार्थ मानी जाने लगी हों, जहाँ उसकी दुर्बलताएँ ही उसका आदर्श बन गयी हों, जहाँ कलाकार की आँखें उसके जीवन के घृणित पक्ष पर ही रीझती हों, स्वाभाविक है कि अपने इस कथ्य को वे चमत्कारिक बनायँगे। असाहित्यिक कृति को चमत्कार की चुस्त पोशाक पहना कर उससे पाठक को आकर्षित करने के अलावा ये बेचारे करें भी तो क्या करें। परंतु वेश्या को कुलवधू की साड़ी पहना देने से ही वह कुलवधू नहीं बन सकती। शिल्प में चमत्कार उसका प्राण है, इसे सभी स्वीकारते हैं परंतु होटल की सफ़ेद चूने से पुती दीवार पर किसी बैरे की असावधानी से लगे धब्बे को माडर्न आर्ट कह देना और उसमें चमत्कार खोजना शिल्प नहीं; जब कि हमारे आज के शिल्पी कहना न होगा, इसी को शिल्प और चमत्कार की संज्ञा दे रहे हैं। मानव-जीवन आज बहुत उलझा हुआ है, यह ठीक है, परंतु बच्चे के हाथ में पड़ी रील के धागे-सा बेतरतीब उलझा हुआ नहीं। जब कि उस उलझन को चित्रित करने में कृतिकार अज्ञानता-वश आज ठीक ऐसा ही उलझ रहा है।

शैली व्यक्ति हो सकता है व्यक्ति शैली नहीं। परंतु यदि पुरानी कहावतों को ज्यों का त्यों मान लिया जाय तो फिर उसमें आधुनिकता कहाँ रही। आधुनिकता लाने के लिए इन कहावतों को उल्टा करना पड़ेगा और निस्संदेह इसी खब्त ने आज कविता अथवा कहानी के क्षेत्र में जितने व्यक्ति उतने शिल्प बना दिये हैं। इनमें स्वयं ही कोई कहता है कि **हम नदी के द्वीप हैं** तो कोई कहता है **हम सरोवर हैं**। दिल्ली विश्वविद्यालय में आयोजित एक गोष्ठी में डॉ० बच्चन ने इनका ठीक ही उत्तर दिया है कि **इनमें कोई भी इतना ईमानदार नहीं है जो कहे कि हम इन्सान हैं।**

सेक्स मानव-जीवन का बहुत बड़ा यथार्थ है इससे कोई भी व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता और न कोई इसकी जानकारी की अपेक्षा से मुकर सकता है। किंतु इसके चलते समाज में कोई अव्यवस्था, विघटन या उच्छृंखलता न आने देने का उत्तरदायित्व भी प्रत्येक नागरिक पर है

यह संभवतः सबसे बड़ी अपेक्षा है। माँ-बाप सब समझते हुए ही लड़की या लड़के का विवाह करते हैं परंतु इसका हर्गिज़ यह अर्थ नहीं कि लड़की अथवा लड़का माँ-बापके सामने ही मर्यादाओं को लाँघ जायँ और उस कुत्सित सत्य को उन्हीं के सम्मुख नंगा कर के रख दें। आज कविता और कहानी में यथार्थ की दुहाई देने वाले हमारे तथाकथित नयी पीढ़ी के कवि या कहानीकार मर्यादाओं को मिटाने पर तुले हुए हैं और उनके लिए पिता पिता न हो कर 'मदर्स हस्बैंड' और माँ 'फ़ादर्स वाइफ़' मात्र बन गयी हैं।

शृंगार से आज आशय मात्र नंगे सेक्स से लिया जाने लगा है। आज के इस साहित्य में और फ़ुटपाथ पर बिकने वाले सस्ते सेक्स संबंधी साहित्य में मात्र इतना अंतर रह गया है कि एक तोता-मैना और प्रेम पचीसी के भोंड़े शिल्प से सजाया गया है तो दूसरा फ़ायडवादी पाश्चात्य शैली में। इसी को इन्होंने गतिशीलता की संज्ञा दे दी है। यदि आज की गतिशीलता का यही स्वरूप है तो इन लेखकों से हमारा नम्र निवेदन है कि हमें उसी साहित्यिक, गतिरुद्धता के वातावरण में जीने दें। अपनी इस गतिशीलता के विष से निरपराध पाठक वर्ग के हृदय में इस अमर्यादित सेक्स का कैंसर न उत्पन्न करें। तुम्हारे 'मन की अँधियारी कोठरी में अतृप्त आकांक्षा की वेश्या बुरी तरह खाँसती है' तो इसे उसी अँधियारी कोठरी में खाँसने दो। राजपथ पर उसे खड़ा कर के उसे समाज की प्रतिनिधि तो न बतलाओ। अरे! महानता तो वेश्या को कुलवधू बनाने में है कुलवधू को विवश कर, मेरे समाज के उन्नायको! उसे क्यों वेश्या बनाने पर तुले हुए हो। अपने गुरुजनों के प्रति आज के कहानीकार का, इस तथाकथित युग स्रष्टा का यह भोंड़ा विद्रोह युग को पतन की किस सीमा तक घसीटता है यह देखना है।

आज का लेखक जब प्रतिबद्धता की बात करता है तो मुझे लगता है ये लेखक संभवतः अमरीका की पूँजीवादी पद्धति से ही प्रतिबद्ध हैं। अन्यथा प्रतिबद्ध शब्द, यदि मैं ग़लत नहीं हूँ तो, संभवतया साम्यवादी सिद्धांतों से बँधे प्रगतिवादी साहित्यकारों के लिए ही प्रयोग में आया था और आज के ये लेखक कोई भी झुग्गी झोपड़ी का अनुभोक्ता नहीं है अपितु इनमें से अधिकांश पूँजीवादियों की कुबेरपुरी की गलियों में ही भटकने वाले हैं। आज सर्वहारा वर्ग के उन्नयन की योजनाएँ जिस प्रकार वातानुकूलित कक्षों के अंदर तैयार हो कर उन दीवारों से बाहर कार्यान्वित नहीं हो पा रही हैं ठीक उसी प्रकार उस शोषित वर्ग की आवाज़ का प्रतिनिधित्व आज वाशिंगटन और लंदन की सड़कों पर फिरने वाले लेखकों की कलम भी करने चली है और यही कारण है कि यह तथाकथित नया साहित्य समाज से अलग-थलग पड़ गया है। कुछ दिनों पहले एक साहित्यिक 'साप्ताहिक' कहानीकारों का सचित्र परिचय भी दे रहा था और उसमें चित्र के बारे में वह यह लिखना भी आवश्यक समझ रहा था कि लेखक का यह चित्र पेरिस या अन्य किसी पश्चिमी देश के किस स्टूडियो में लिया गया था। लेखक और संपादक की यह मनोवृत्ति ही उसके पश्चिमी ब्रांड होने का पर्याप्त प्रमाण है।

आधुनिकता और भारतीयता को ले कर भी अनेक गोष्ठियाँ आयोजित की गयीं और उनमें पश्चिम को अपनाने का ही नहीं अपितु पश्चिम को एकमात्र आदर्श मानने की भी बड़ी वकालत की गयी किंतु ईमानदारी की बात यह है कि लगभग ये सभी गोष्ठियाँ बंबई जैसी अर्ध भारतीय

महानगरी में हुई हैं जिसे भारत का प्रतिनिधित्व करने का कोई अधिकार नहीं है। 'है बसा हुआ हिंदोस्तान हमारे गाँवों में। भारत का वास्तविक स्वरूप उसके ८० प्रतिशत ग्राम हैं। ग्रामों की व्यवस्था पर यह मानना पड़ेगा कि इतने दिनों के विदेशी शासन के अंतर्गत रहने पर भी, राजनीतिक प्रभाव के अतिरिक्त कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। उपेक्षितावस्था में होने पर भी ग्रामों की सामाजिक दशा नगरों की तुलना में अप्रभावित रही। किंतु आज के भारत में नगरों की मुट्ठी भर जनता के लिए ग्रामों की विशाल जनता का बलिदान नहीं किया जा सकता। उनको समुचित महत्व प्रदान किये बिना समाजवादी समाज का ढाँचा खड़ा करना निरी मूर्खता होगी। ग्रामों की इस विशाल जनता का प्रतिबिंब पश्चिम के पानीचढ़े शीशे में नहीं झलक सकता। कथ्य और शिल्प तो दूर की बात है आज के इस साहित्य की भाषा ही भारतीय नहीं। जहाँ तक आधुनिकता का प्रश्न है यह आधुनिकता पश्चिम की बपौती नहीं है। क्या पश्चिम की नवीन जीवन-दृष्टियाँ और शैलियाँ ही आधुनिकता हैं? आधुनिकता के इन प्रवक्ताओं में से है कोई इतना ईमानदार कि वह इसे अपने राष्ट्रीय परिवेश में प्रतिष्ठित कर के देखे। किन्हीं विशेष प्रकार की पाश्चात्य काव्य-शैलियों से बँधी इस तथाकथित आधुनिकता और भारतीयता में अवश्य ही विषमता होगी क्योंकि इसकी जड़ें हर्गिज़ हमारे राष्ट्रीय परिवेश की नहीं हैं।

पाठकों की ओर से अपने इन आधुनिक लेखकों से मेरा यह नम्र निवेदन है कि वे अपने इस स्वस्थ (?) भाव-बोध को अपनी व्यक्तिगत सीमाओं में ही रखें और हमें बक़ौल उनके अपनी उन दीमकलगी परंपराओं में ही जीने दें। उनके विकास और युग-बोध का यह इंजेक्शन उस दीमक से अधिक विषैला है। वे आज समाज को सेक्स के इस मारफ़ीया के इंजेक्शन से संज्ञाहीन न करें अपितु उसे संज्ञावान रह कर एक दूसरे के दुख-दर्द को परस्पर बाँटने के योग्य रहने दें।

डॉ० नगेंद्र ने इस नये काव्य को विद्रोह की संज्ञा दी थी। परंतु इस विद्रोह की तुलना, मैं अधिक से अधिक नागा या मिजो विद्रोह से ही करूँगा जिससे हर स्थिति में राष्ट्र का अहित ही है, हित कदापि नहीं। किसी स्वस्थ लक्ष्य को ले कर जो विद्रोह खड़ा किया जाता है वह बड़ा सशक्त होता है और उसे जनता का ज़बर्दस्त समर्थन प्राप्त होता है। जनता की उपेक्षा कर कोई विद्रोह चाहे जितनी शक्ति से प्रारंभ किया जाय, उसकी नियति वही होती है जो आज हमारे इर्द-गिर्द उठे अनेक राजनीतिक विद्रोहों की हो रही है। फिर साहित्यिक विद्रोह तो अपनी संस्कृति, अपनी कला की उपेक्षा कर किसी भी दशा में सफल नहीं हो सकता। पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के ये दलाल यदि यह सोच रहे हों कि ये हमारी संस्कृति, हमारी कला, हमारी परंपरा, हमारे इतिहास को समाप्त कर सकेंगे तो वे इस तथ्य को न भूलें कि जिस काम को एड़ी-चोटी का जोर लगा कर उनके स्वामी नहीं कर सके उसे ये सेवक, वे कितने ही बड़े क्यों न हों, कदापि नहीं कर सकते। युगधर्म की बात वे जितना बढ़-चढ़ कर कर रहे हैं उतना ही वे युगधर्म के प्रति अपनी अज्ञानता का प्रदर्शन कर रहे हैं। इस स्वार्थी वर्ग को मैं एक बार फिर याद दिला दूँ कि आज नहीं तो कल उन्हें 'तेहि नो दिवसाः गताः' कह कर आँसू बहाने पड़ेंगे।

वास्तव में जब तक हमारी कविता या कहानी घोर वैयक्तिक बनी रहेगी, जब तक समाज के हित को महत्व नहीं दिया जायगा, तब तक यह नया साहित्य सड़क के लुढ़कते पत्थर की तरह

भटकता रहेगा। हम राही हैं, राहों के अन्वेषी हैं यह सब कोई निश्चित स्वरूप प्राप्त करने की अपनी असमर्थता को छिपाने की बहानेबाज़ी मात्र है। दिखावटी सौंदर्य-बोध, दर्द और दुख चिल्लाने वालों की नपुंसकता पर सर्वेश्वर के इस कठोर व्यंग्य **भूखी बिल्ली की तरह अपनी गर्दन में सँकरी हाँड़ी फँसा कर, हाथ-पैर पटको, दीवारों से टकराओ, सहज छटपटाते जाओ, शायद दया मिल जाय** से भी यदि ये नये कवि-कथाकार अथवा लेखक शिक्षा ले लें तो भी ग़नीमत है।

पाठक लेखक से अपनी समस्याओं का हल चाहता है; वह हर नयी कृति में अपने जीवन-प्रश्नों का हल खोजता है परंतु जब उसे स्थान-स्थान पर बड़े प्रश्न-चिन्ह लगे मिलते हैं तो साहित्य या साहित्यकार के प्रति उसकी आस्था मरती जाती है। कहना न होगा आज की हमारी भाषा, शैली, हमारा कथ्य सब कुछ प्रश्नांतक बन गया है। इन प्रश्न-चिन्हों के विस्तार में कृति और कृतिकार, दोनों पूर्णत: छिप गये हैं। और उपलब्धि के नाम पर छोड़ गये हैं, फिर एक बड़ा भारी प्रश्न-चिन्ह। कविता या कहानी को पढ़ने में मनोरंजन की जो बात कही जाती है वह बुरी बात नहीं। वह साहित्य की एक शाश्वत अपेक्षा है। पढ़ते हुए मनोरंजन तभी होता है जब पाठक को उसमें अपने जीवन-प्रश्नों का हल मिलने लगता है। उसकी उत्सुकता तभी बढ़ती है और वह उस रचना को पूरी पढ़े बिना नहीं रह सकता। इसी को साधारणीकरण भी कह सकते हैं। जहाँ पाठक का इस प्रकार साधारणीकरण हो जाता है, उसे अपना अपेक्षित हल मिलता नज़र आने लगता है, वहीं साहित्य में हित की बात भी आ जाती है। अत: आज के लेखक साहित्य की पुरानी परिभाषाओं को मृत मान कर उन्हें जो कफ़न ओढ़ा रहे हैं यह कदापि न्यायिक नहीं। वे उन्हें नये संदर्भों में देखें, नये परिप्रेक्ष में रख कर उनका अध्ययन करें, उसे नया मूल्य दें, नयी अभिव्यक्ति दें, इससे किसी को एतराज़ नहीं, अपितु इसकी तो हर नये लेखक से आशा की जाती है परंतु जब वह किसी 'ट्रेड जेलसी' के कारण या प्राचीन की तुलनाएँ हृदय से अपने बौद्धिक दिवालियेपन की स्वीकृति से उत्पन्न खीझ को, हर पुरातन को गाली देने में उतारने लगता है तो निस्संदेह कोई भी इसे स्वस्थ मनोवृत्ति नहीं बतलायगा और उसकी इस मानसिक विकृति का, जो समाज की छाती पर एक नासूर का रूप धारण करती जा रही है, ऑपरेशन करना आवश्यक हो जाता है। आज का लेखक जागरूकता की बात तो करता है परंतु लगता है कि यह जागरूकता भी उसके पास उधार माँगी हुई है। समाज तो रहा दूर, वह अपने व्यक्ति के प्रति भी जागरूक नहीं है। जिसके प्रति वह जागरूक है वह है पश्चिम का पराकाष्ठावादी मानववाद जो हमारे राष्ट्रीय परिवेश में कदापि फ़िट नहीं बैठता।

साहित्य में अंतर्मुखता या वैयक्तिकता हेय नहीं बशर्ते वह व्यक्ति को समष्टि की इकाई माने। परंतु आज का लेखक जिस व्यक्ति को साहित्य में उतार रहा है, वह हमारे समाज की इकाई नहीं। इसीलिए वह हमारी राष्ट्रीय चिंतना से समन्वय नहीं कर पा रहा है और समाज की आँख में किरकिरी बन कर रह गया है। यूरोप अथवा अमरीका की राष्ट्रीय चिंतना का अध्ययन करने से पता चलता है कि वहाँ आज व्यक्ति और समाज के बीच विच्छेद हो चला है जो हमारी राष्ट्रीय चिंतना के एकदम विपरीत है। सीता और सावित्री को छोड़ भी दें झुनिया और अल्का के

देश में लेडी चैटरली छप नहीं सकती। कलकत्ते की एक साहित्यिक पत्रिका द्वारा आयोजित गोष्ठी में राजेंद्र अवस्थी कहते हैं: 'आजादी के बाद, जैसा कि अनुभव किया है, मैंने अनुभव किया है, आपने भी अनुभव किया होगा कि हमारी जिंदगी में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया है। राजनैतिक परिवर्तन के साथ ही हम अपने आपमें बदल गये हैं और हमें आजादी मिल गयी है और वह है हमें सब कुछ बोलने की, सब कुछ करने की, सब कुछ कहने की, देखने की और परखने की।' स्वतंत्रता के बारे में इसी भ्रांत धारणा ने संभवतः आज के साहित्यकार को भटका दिया है। उन्होंने आजादी के बाद का एक ही पहलू देखा है। उन्हें शायद मालूम नहीं कि सब कुछ बोलने वालों के लिए आजादी के बाद मानसिक चिकित्सालय भी बहुत खोल दिये गये हैं, सब कुछ करने वालों के लिए कई जेलखाने तैयार कर दिये गये हैं। देश के हर व्यक्ति को ऐसी मानसिक विकृति वालों को ठीक करने का अधिकार भी दे दिया गया है। शोषण के विरुद्ध अधिकार भी तो हर नागरिक को मिला हुआ है।

मेरा विचार है कि आज का नया लेखक पहले अपनी भ्रांतियों से आप तो मुक्ति पा लें, फिर समाज को उन तथाकथित 'आउट ऑफ़ डेट' और सड़ी-गली परंपराओं से उबारने की बात करें। स्वयं दीमकलगे कगारों के सहारे खड़ा रह कर वह समाज की बौद्धिक परतंत्रता के बोझ को उतार फेंकने की अनधिकार चेष्टा न करे।

चलते-चलते जरा 'क्षण' का भी जिक्र कर लूँ। क्षण काल की एक इकाई है और यदि सागर को देख कर हम बूँद की उपेक्षा करते हैं तो यह हमारा अज्ञान है। समस्त विश्व का साहित्य इन्हीं क्षणों में उत्पन्न अनुभूतियों का संकलन है। विश्व का समस्त ज्ञान ही इन क्षणों में प्राप्त अनुभवों का परिणाम है। परंतु इनमें भी सामान्य और विशिष्ट का विधान है। हर क्षण एक नयी विशिष्ट अनुभूति प्रदान करता हो, यह बात नहीं। किसी क्षण में कौंध कर आयी हुई अनुभूति के लिए हम अब तक के अर्जित ज्ञान का बलिदान नहीं कर सकते। साहित्यकार एक अकिंचन क्षण को चिर बना देता है। कैसे? आज तक के अर्जित अनुभव से उस नवीन अनुभूति को तराश कर एक श्रेष्ठ कृति के रूप में प्रस्तुत करने से ही वह क्षण चिर बन सकता है, ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर नहीं।

कुछ भी हो, लाख गोष्ठियाँ करिए, लाख सेमिनारों का आयोजन करिए, इससे मूल प्रश्न हल होने वाला नहीं। इस बटेरों की लड़ाई में कुछ हाथ आने वाला नहीं। नये प्रयोग को अब तक इतना समय हो गया है, अभी तक की उपलब्धि के आगे प्रश्न-चिन्ह ही बना हुआ है और यदि इस नये प्रयोग की दिशा बदली नहीं, यदि युग भ्रांति को ही युग-बोध का नाम दिया जाता रहा तो यह प्रश्न-चिन्ह बृहद् से बृहत्तर होता जायगा।

—एम २०७, कस्तूरबा नगर,
नयी दिल्ली-३।

हास्य-व्यंग्य

रवीन्द्रनाथ त्यागी

क़िस्सा एक दिलचस्प गवाह का

पंडित जगराम चौबे हमारे गाँव के पुरोहित थे। सुबह-शाम मंदिर की सफ़ाई करते, मूर्ति को स्नान कराते और पूजा-पाठ, आरती वग़ैरह का प्रबंध करते। रात को मंदिर में ही वे सो भी जाते थे। सारे जीवन में दो ही शौक़ थे—एक तो भगवान शिव की उपासना करने और उनकी आरती गाने का और दूसरा भंग छानने का। भंग एक ऐसी चीज़ थी जो जाड़ों में उन्हें सर्दी से बचाती थी और गर्मियों में लू से। रह गयी बरसात; सो वह बरसात ही क्या जिसमें बूटी न छनी! भंग और भक्ति के अतिरिक्त जो थोड़ा-बहुत समय इस क्षणभंगुर जीवन में बचता था उसे पंडित जी खेतीबारी में लगाते थे। मंदिर के बाहर थोड़ी सी धरती थी जिसमें भंग तथा तंबाक़ू बोया जाता था। तीर्थयात्रा वग़ैरह के अवसर पर इन दोनों वस्तुओं को एक साथ चिलम में पीने से उनकी आत्मा की थकावट दूर होती थी। मेरे विचार में पंडित जी भंग को एक ऐसी औषधि मानते थे, जिसका प्रयोग जुकाम से ले कर परिवार-नियोजन तक सफलतापूर्वक किया जा सकता था, और इसका परिणाम यह था कि पंडित जी निःसंतान थे। वैसा होने का एक और कारण शायद यह भी था कि पंडित जी का विवाह नहीं हुआ था।

पंडित जी का ख़ुशमिजाज जीवन अच्छा-खासा चल रहा था कि व्यतिक्रम आ गया। बात यह हुई कि गाँव के पटवारी मुंशी हरभजन लाल ने थाने में यह रिपोर्ट लिखवा दी कि चौधरी रामरिछपाल ने उसकी पत्नी पार्वती को छेड़ा है। रिपोर्ट के अनुसार यह पवित्र क्रिया मंदिर के अहाते ही में संपन्न की गयी थी और इसी कारण पंडित जी की गवाही का सारे मामले में काफ़ी बड़ा मूल्य था। पटवारी जी ने पंडित जी के चरणों में सिर रखा और मुक़दमा जीत जाने पर भंग की खेती के लिए एक बीघा अतिरिक्त धरती देने और रहट का कुआँ बनवाने का वायदा किया। पंडित जी को और क्या चाहिए था! तैयार हो गये। वे तो यही सोच रहे थे कि यदि हर एक गवाही पर इतना इनाम मिलता है तो गाँव के और नौजवान पार्वती को क्यों नहीं छेड़ते?

वारदात की उन्हें कोई जानकारी नहीं थी यद्यपि रामरिछपाल सिंह के बारे में कुछ ज्ञातव्य आँकड़े उन्हें ज़रूर मालूम थे। बचपन से लेकर अब तक रामरिछ ने पंडित जी को दुख ही दिया था। अगर कभी भंग घोटने का सोंटा ग़ायब है तो कभी उसे छानने का अँगोछा। और कुछ नहीं तो थोड़ा सा धतूरा ही भंग में मिला दिया। जिसका प्रभाव पंडित जी के स्नायुमंडल पर विचित्र प्रकार का होता था। धतूरा खाते ही वे एकदम बहक जाते थे और एकदम उस व्यक्ति की तरह व्यवहार करने लगते थे जिसने कि धतूरा खाया हो। हाँ, तो पंडित जी गवाही को तैयार हो गये। मुक़दमे की तारीख़ लग गयी और पंडित जी के नाम 'समन' भी आ गया। रामरिछको सारी कहानी का पता अब कहीं लगा, पर उसने हिम्मत न हारी।

मामला डिपुटी साहब की अदालत में पेश होना था। हाकिम का नाम था सैयद चिराग़ अली। भले घर के बुज़ुर्गवार क़िस्म के इंसान थे जो तहसीलदार से तरक़्क़ी पा कर हाकिम परगना हुए थे। अवकाश प्राप्त करने में कुछ ही महीने बाक़ी थे जिन्हें उन्होंने सिर्फ़ तारीखें लगा-लगा कर काटने का फ़ैसला कर रखा था। ग्यारह बजे के क़रीब कचहरी तशरीफ़ लाते थे और दोपहर को आराम फ़रमाते थे। दफ़्तर में हुक़्क़ा रखा जाता था और इजलास के बाद उसे गर्म किया जाता था। एक-दो अर्दली आग वग़ैरह के इंतज़ाम में जुटे रहते थे। धर्म के मामले में डिपुटी साहब उदार वृत्ति के व्यक्ति थे और गाने-बजाने का शौक़ रखते थे। गाहे-बगाहे उनके यहाँ मुजरा वग़ैरह होता रहता था।

पटवारी जी पंडित जगराम को ले कर सुबह ही सुबह अपने वकील के यहाँ गये। वकील ने पंडित जी को काफ़ी सुलझा हुआ व्यक्ति पाया। फिर भी उसने उन्हें थोड़ी-बहुत सलाह दी और चलते वक़्त यह भी कहा कि अदालत में हाकिम से डरना हर्गिज़ नहीं चाहिए। साँच को आँच कहाँ!

बाक़ी मुक़दमों की तारीखें लगाते-लगाते जनाबेआला सैयद चिराग़ अली डिपुटी साहब बहादुर को एक बज गया। इसके बाद जैसेही पंडित जी अपनी गवाही के मूल सूत्र शायद पचासवीं बार मन में दुहरा कर हनुमान चालीसा से उसका समापन कर रहे थे—अदालत में 'लंच' हो गया। वकील साहब ने घर की राह ली और पटवारी हरभजन लाल ने कचौरियों के पैसे पंडित जी के हाथ पर रखे। पंडित जी ने पैसे अँगोछे में बाँधे और इधर-उधर निगाह दौड़ायी जहाँ बैठ कर थोड़ी-बहुत भंग का सेवन किया जा सकता। सुबह से आत्मा प्यासी थी। तहसील की तरफ़ निकले तो देखते क्या हैं कि ख़ज़ाने के बाहर बरगद के नीचे रामरिछ के नौकर भंग घोट रहे हैं। ननकू बोला, "पंडित जी पाँय लागूँ! किस चक्कर में पड़ गये महराज? आज तो बूटी भी नहीं छनी! उठ रे, पंडित जी को आसन दे, झगड़ा तो मालिक से है न कि हमसे।" ग़र्ज़ यह कि 'लंच' की सारी अवधि भंग की सेवा में बिना किसी बाधा के व्यतीत हुई। पहले भंग की गोलियाँ खायी गयीं, फिर ठंडाई का पान हुआ और फिर भंग पड़ी कचौरियों का सेवन किया गया। तृप्त होने के बाद पंडित जी विश्राम के लिए डिपुटी साहब की अदालत के बरामदे में एक

बोरे पर लेट गये। भंग में मिले धतूरे ने अपना पुश्तैनी काम दिखाना शुरू किया ही था कि इजलास के अर्दली ने उनके लिए हाँक लगा दी—पंडित जगराम चौबे हाज़िर हैं...ऽ...ऽ...ऽ...?

"अबे पगला गया है क्या? इतना क्यों चिंघाड़ता है? हम कहीं ज़िला छोड़ कर भाग गये क्या? यहीं तो लेटे हैं। और कुछ काम-धंधा नहीं तो लगा बिना बात गला फाड़ने..." कहते-कहते पंडित जी ने अपना बलिष्ठ हाथ नंबर एक उस दुबले-पतले अर्दली के कंधे पर रखा। हाथ के वज़न से अर्दली तो धराशायी होते-होते बचा और पंडित जी नशे में धुत्त इजलास में दाखिल हुए। अंदर क़दम रखते ही स्थिति की गंभीरता का उन्हें पूरा-पूरा एहसास हो गया, मगर इल्लत यह थी कि एक तो उनका जिस्म बुरी तरह टूट रहा था और दूसरे उन्हें यह क़तई याद नहीं रहा था कि अदालत आये हैं तो क्यों आये हैं।

आख़िर पंडित जी का नंबर आया और वे गवाहों के कटघरे में खड़े किये गये। अदालत के एक अदना से कर्मचारी ने उनका नाम पूछने की गुस्ताख़ी की जिसे उन्होंने डाँट दिया। क़सम वग़ैरह खायी ही थी कि डिपुटी साहब ने चश्मा पोंछते हुए सवाल किया, "आप इस मामले के बारे में क्या जानते हैं?"

"कौन सा मामला?"

"वही, पार्वती वाला।"

"कौन सी पार्वती?"

"मुसम्मात पार्वती—पटवारी हरभजन की......"

"अच्छा, हर-भजन....हरि को भजे सो हरि का होई....हर-भजन से अच्छी कोई चीज़ नहीं सरकार....उल्टा नाम जपत जग जानूँ, वाल्मिकि में ब्रह्म समानू..."

गाड़ी पटरी से इस तरह उतरते देख पटवारी जी के वकील की अक़्ल चकराने लगी। यही व्यक्ति सुबह के वक़्त कितनी संजीदगी से बातें कर रहा था और अब एक-दम भक्तिकालीन समीक्षक की भाँति उद्धरण देने की धुन में है। उसने पंडित जी की तरफ़ घूर कर देखा। यह होना था कि पंडित जी और भी बहक गये। उन्हें ख़याल आया कि इन हज़रत को कहीं देखा है... ज़रूर देखा है...मगर कहाँ देखा है यह याददाश्त के बाहर की बात है। फ़ौरन बोले, "ओ रे बाबू, हमने तुम्हें पहले भी कहीं देखा है?"

"आज सुबह आप मेरे दफ़्तर में आये थे।"

"नहीं, आज नहीं। आज तो हम दिशा-कर्म के बाद तुरंत अदालत ही चले आयें। आज तो बाबू खड़े-खड़े जीभ सूख गयी। हाँ, तो बताओ न बाबू, तुमसे पहले कहाँ भेंट हुई है?"

मामले को सही रास्ते पर डालने की कोशिश करते हुए डिपुटी साहब ने पूछा, "पंडित जगराम चौबे आप ही का नाम है?"

"एकदम सच्ची बात, हजूर! ऐसी बात सरकार हमें बहुत पसंद है। लोग तो यूँ ही कहते हैं कि अदालतों में भी झूठ बोला जाता है।"

"रामरिछपाल सिंह को आप जानते हैं?"

"हाँ सरकार, हम इन्हें भी जानते हैं, इनके बाप को भी जानते हैं। इसकी शादी में सरकार बारात नाव पर गयी थी। शादी में तीनों वक़्त लालफूल के कद्दू का साग बना था। और हाँ सरकार, रायते में मिर्चें बहुत ज़्यादा थीं। इतनी ज़्यादा कि...

"इसका चालचलन कैसा है?"

"किसका सरकार?"

"रामरिछपाल का।"

"बहुत बढ़िया सरकार! यह तो बिचारा औरों की औरतों को क्या अपनी बीबी को भी माता की तरह देखता है। सरकार बात यह है कि इसकी पतुरिया की उमर इससे कोई दस साल जास्ती है। शादी धोखे से की गयी थी। बारात में हम लोग गये थे। रायते में मिर्चें इतनी ज़्यादा डाली गयी थीं कि......"

डिपुटी साहब ने पंडित जी को ठीक तरह बातें करते देख वकील को इशारा किया कि आगे बढ़ा जाय। वकील ने पूछा, "पार्वती के बारे में आप क्या जानते हैं?"

"पार्वती को कौन नहीं जानता हजूर! वे तो देवी हैं। पहाड़ पर रहती हैं। उनके पति साँप पालते हैं।"

"क्या कहा!...साँप पालते हैं?"

"जी सरकार। सुना नहीं आपने : 'साँड़ की सवारी करे, भंग और धतूर पिये, सिर पर वो गंग धरे....' और हाँ सरकार, वह कहानी सुनी है आपने कि एक दिन पार्वती अपने पति के साथ साँड़ पर बैठी हुई कहीं जा रही थी। रास्ते में कुछ लोग मिले......"

"बेकार की बातें बंद कीजिए। मुसम्मात पार्वती के बारे में आप क्या जानते हैं?"

"सरकार गुस्सा क्यों होते हैं! धीरे-धीरे ही तो सारी बातें बतलायँगे। अच्छा तो लो, साँड़ की कहानी फिर कभी सुनायँगे। हाँ, तो पार्वती के बारे में सुनिए। पार्वती दक्ष की लड़की हैं और महादेव की पत्नी। इनके दो पुत्र हैं, जिनमें से एक का नाम है गणेश। ये, सरकार, चूहे की सवारी करते हैं। हजूर, सारी दुनिया ने सवारी बदल दी और आज भी टमटम छोड़ कर मोटर पर चलने लगे, मगर गणेश जी ने अपना चलन नहीं छोड़ा। वही चूहा सरकार...एक बात पूछ लूँ हजूर?"

"क्या?" डिपुटी साहब बोले।

"सरकार चूहे की उम्र क्या होती होगी? सवारी में कोई एक ही चूहा थोड़े ही चल रहा होगा अब तक?"

अब अदालत में यह स्थिति थी कि सिवाय पटवारी हरभजन के सारे लोग इस गवाही में दिलचस्पी ले रहे थे। डिपुटी साहब भी सोच रहे थे कि चलो एक ही गवाह शाम तक को काफ़ी है। इससे पहले कि कोई और सवाल पूछा जाय, पंडित जी ने आँखें मींच कर मधुर स्वर में गाना शुरू किया: "जय गणेश देवा....माता उनकी पार्वती, पिता महादेवा....फूल चढ़े, पत्ती चढ़े और चढ़े मेवा......"

"देखिए, आप यहाँ आरती न पढ़िए......"

"लड्डू का भोग लगे, संत करें सेवा. . . ." और इसके बाद उन्होंने इतने भाव-विभोर हो कर गणेश जी की वंदना की कि समाँ बँध गया।

संगीतप्रिय डिपुटी साहब ने पंडित जी को एक प्रशंसक की निगाह से देखा। पंडित जी हाथ जोड़ कर उन्हें देखने लगे।

"तुम गाते अच्छा हो" डिपुटी साहब बोले, "हालाँकि नशे की हालत में तुम्हें अदालत में आना नहीं चाहिए था. . . .यह जुर्म है. . . . . ."

"धन्य हैं सरकार, धन्य हैं! सरकार आपका नाम चिराग़ अली किसने रखा है? आपको तो सरकार लैंप अली कहना चाहिए। आप तो सरकार सभी कुछ जानते हैं। अच्छा तो हम अब चलते हैं, कुछ विश्राम करेंगे। साँड़ वाली कहानी फिर कभी होगी. . . . ."

इसके बाद पंडित जी नीचे उतरे और पटवारी जी के वकील की ओर देखते हुए बोले, "बताओ न बाबू, आखिर तुम्हें देखा कहाँ है?"

—ज्वाइंट कंट्रोलर,
सी० डी० ए० पेंशन ऑफ़िस,
द्रौपदीघाट, इलाहाबाद।

भारतीय शिक्षा

भारतीय शिक्षक संघ : ए० आई० एफ़० ई० ए० : की मासिक मुख पत्रिका

● प्रारंभिक पाठशाला से विश्वविद्यालय तक भारतीय शिक्षकों को राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से एक सूत्र में आबद्ध करने वाली एकमात्र पत्रिका ● समुचित शिक्षण सेवा के लिए शिक्षक पालक संगठन का प्रथम प्रयास ● सार्वजनिक पुस्तकालयों एवं विद्यालयों की वार्षिक सदस्यता के सर्वथा उपयुक्त ● केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय का वरद हस्त तथा अधिकांश राज्यों की स्वीकृति प्राप्त ● सेवा के चौथे वर्ष में प्रवेश के उपलक्ष रूप व्यापक महत्व का विशेषांक : शीर्षस्थ राष्ट्रों (संयुक्त राज्य, रूस, ब्रिटेन, फ़्रांस, जर्मनी, जापान) के शिक्षक तथा शिक्षक संघ ● संपादकीय परामर्शदात्री समिति तथा प्रवासी प्रतिनिधि मंडल के सक्रिय सहयोग से देश-विदेश के हिंदी सेवियों का सक्रिय सहयोग प्राप्त ● तीन हज़ार प्रतियाँ, विज्ञापन का महत्वपूर्ण माध्यम

अ० सम्पादक तथा प्रकाशक

कालिदास कपूर, कपूर कुटी, हरदोई मार्ग, लखनऊ - ३

साइज़ : डिमाई अठपेजी, पृष्ठ-संख्या ८० : वार्षिक शुल्क : सात रुपये

सुसज्जित एवं सुन्दर छपाई, प्रकाशन प्रतिमास की २६ तारीख़

कान्तिकुमार

केशव पाठक और उनका काव्य

पं० केशव प्रसाद पाठक यदि आज जीवित होते तो उनकी आयु ६० वर्ष की होती। उनका जन्म जबलपुर के एक अत्यंत सुसंस्कृत परिवार में १९०६ में हुआ था और मृत्यु छिंदवाड़ा के टी० बी० सेनोटोरियम में १९५६ में। अर्द्ध शताब्दी के इस अंतराल में उन्होंने, जैसा कि अंग्रेजी मुहावरा है—अपने जीवन की मोमवत्ती को दोनों सिरों से जलाया। केशव पाठक के 'जीवन और उनके काव्य' को देखते हुए हमें १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के फ़्रांसीसी कवि पॉल बर्लेन की याद आती है। काटुले मैंडीज ने बर्लेन के बारे में कहा था कि वह आदमी बड़ा अभागा पर कवि बहुत बड़ा था। ठीक यही बात केशव पाठक के संबंध में भी कही जा सकती है। बर्लेन की कविताएं किसी रहस्यमयी सत्ता के प्रति निवेदित हैं और वे आध्यात्मिक विह्वलता के गहन गह्वरों से प्रसूत जान पड़ती हैं। वह अपने जीवन में निरंतर ज्योति और शुचिता की कामना करता रहा पर जीवन भर असफलता और विकृति ने उसका साथ नहीं छोड़ा। जीवन भर निरंतर ईश्वर की तलाश करने वाले इस कवि को मदिरा के अतिरिक्त कहीं और शरण नहीं मिली। वह अपने पड़ोसी की सहायता करना चाहता था पर प्रकृति और परिस्थिति के हाथों असहाय वह ऐसा कर नहीं पाया। बर्लेन की भाँति केशव पाठक के जीवन और जीवनी-शक्ति को मदिरा ने सोख लिया। क्षय उनके जीवन का ही नहीं, मृत्यु का भी साक्षी बना, दुख ही केशव पाठक के जीवन की कथा रही, पर उन्होंने कभी अपने संकटों और संघर्षों की उद्घोषणा नहीं की। 'ज़िंदगी ने कभी हैरत से भी उन पर रहमत की नज़र नहीं उठायी' पर वे 'जिस हाल में, जहाँ रहे खुश रहे।' उनकी मौज ने, बेफ़िक्री ने और फ़क़ीराना तबीयत ने उनको सबका और सबको उनका बना दिया था। केशव पाठक अभिजात सौंदर्य के स्वाभिमानी कवि थे। शिशु के समान कोमल और पवित्र हृदय वाले इस कवि को संसार में कोई ऐसा स्थान नहीं मिला, जहाँ वह सचेत क्षणों में स्वयं से साक्षात्कार कर सके। फ़्रांस के एक अन्य महत्वपूर्ण कवि बॉदलेयर की भाँति केशव पाठक बुराई में रहे, गो कि ज़िंदगी भर वे भलाई को प्यार करते रहे। केशव पाठक के जीवन में संयम बिल्कुल नहीं था। हाला केवल उनके काव्य का उत्स नहीं थी, वह उनके जीवन का भी उत्स बन गयी थी। तृप्ति के लिए बेहोश हो जाने तक पीना उनकी लाचारी थी, पर बेहोश होने तक तृप्ति न पाना उससे बड़ी लाचारी थी। केशव पाठक ने जीवन में कोई नियम या कभी किसी मर्यादा को नहीं माना, कोई दर्शन उनके जीवन की व्याख्या नहीं कर सकता। वे अनियम के दर्शन में विश्वास रखने वाले परम स्वच्छंद व्यक्ति थे। यह शराबी कवि जीवन में

लाल परी की उपासना करता रहा, पर काव्य में उसने उस चिरंतन, ज्योतिर्मय, छायातन के संधान को अपना लक्ष्य बनाया जो युग-युगों से भारतीय काव्य मनीषा का प्रियतम लक्ष्य रहा है।

मुझे जबलपुर का एक कवि-सम्मेलन याद आता है जिसमें उर्दू के प्रख्यात कवि रघुपति सहाय 'फ़िराक' अध्यक्ष थे और केशव पाठक अपने अलसाये कंठ से अपनी प्रसिद्ध कविता 'आज अकेले जाना होगा' का पाठ कर रहे थे। पाठक जी ने जब—

कुंचित पथभव, तम संकुल पल?
मानव तू इसका ही प्रतिफल।

पंक्तियाँ लहरा कर पढ़ीं तो काव्य-रसिक जनता के साथ 'फ़िराक' भी वाह-वाह कर उठे। पाठक जी ने फ़िराक का हाथ पकड़ लिया और बोले : "पाठक नासमझ की दाद नहीं चाहता फ़िराक साहब। आपको समझाना होगा कि इन पंक्तियों से आप क्या समझे।" केशव पाठक ने जिंदगी में कभी किसी का रौब नहीं माना। उनके स्वाभिमान को न तो जीवन का रौब गवारा हुआ और न मौत का। ज़िंदगी ने उनके गर्व से तने हुए माथे को क्षत-विक्षत भले कर दिया हो किंतु वह उनको नतशीश कभी नहीं कर पायी। मौत उनके लिए ज़िंदा शराब थी। केशव पाठक के लिए वह आतंक की वस्तु नहीं, निसार होने की वस्तु थी। मृत्यु-शय्या पर काँपते हाथों से उन्होंने यह क़तअ लिखा था :

जीस्त की नींव किसने डाली है
खूब प्याली है, मगर खाली है
मौत पर हम निसार सौ-सौ बार
जिसने ज़िंदा शराब ढाली है।

केशव पाठक का जीवन देखते हुए और उनका काव्य पढ़ते हुए हमें बार-बार भारतेंद्र हरिश्चंद्र, निराला और मुक्तिबोध की याद आती है। हिंदी के आधुनिक काव्य में उल्लेखनीय व्यक्ति बहुतेरे हैं किंतु यदि उल्लेखनीय व्यक्तित्वों के नाम लेने पड़ें तो मुझे केवल इन चार कवियों के ही नाम याद आते हैं। ये चारो कवि अद्भुत प्रतिभा-संपन्न, स्वच्छंद, निर्बाध, अमर्यादित और किन्हीं अर्थों में आत्म-विनाशी थे। इन सभी कवियों की अपार जीवनी शक्ति एक ओर तो परंपराओं और रूढ़ियों से जूझने में व्यय हुई और दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व की निर्बाध स्वच्छंदता के कारण उसका स्वयं ही निरंतर क्षय होता रहा। सच तो यह है कि इस प्रकार के व्यक्तियों में जीवन का ऐसा स्वच्छंद वेग और जीवनी शक्ति की इतनी प्रचंड उन्मत्तता न हो तो उनके व्यक्तित्व को वह उल्लेखनीयता ही प्राप्त न हो जो उन्हें 'आम' से 'ख़ास' बनाती है। 'केशव पाठक की काव्य-कृतियाँ' नामक ग्रंथ के भूमिका-लेखक ने उनकी कविता का परिचय देते हुए लिखा है : 'भीषण संघर्षों के बीच सिर ऊँचा किये इस महाकवि का कूच कर जाना अपने आपमें एक उपन्यास-

कथानक है।' यह बात बिना संशोधन के भारतेंदु, निराला एवं मुक्तिबोध के संबंध में भी कही जा सकती है। कवि के अनन्य सखा बाबू रामानुजलाल श्रीवास्तव ने लिखा है: यद्यपि उन्हें निराला जी के समान उन्माद रोग नहीं हुआ पर थे वे अव्यवस्थित चित्त और कवि सुलभ' 'परवर्शन' उनमें था।" सच तो यह है कि प्रतिभा बाढ़ में आयी हुई एक ऐसी उद्दाम नदी के समान होती है जो अपनी उत्ताल तरंगों से किनारे के सारे कगारों को ध्वस्त करती हुई बहती है और जो अपने प्रखर वेग से स्वयं को स्थिर नहीं कर पाती। केशव पाठक भारतेंदु, निराला और मुक्तिबोध की भाँति घर फूँक कर तमाशा देखने वालों में थे। इन अन्य कवियों की भाँति केशव जी के अंतिम दिन घोर आर्थिक संकट में बीते पर जो अपनी जन्म-कुंडली में औद्धत्य और संकट का साहचर्य लिखा कर लाया हो वह मरते समय चैन से कैसे मरेगा और किसी के सामने हाथ कैसे पसारेगा! अपनी अंतिम बीमारी के समय जब उनको यह पता चला कि उनकी दवा-दारू के लिए कुछ निधि एकत्र की जा रही है तो उन्होंने गर्वीले स्वर में कहा था: 'मैं दान नहीं लूँगा।' मुक्तिबोध बराबर इस बात से चिंतित रहे आये कि कहीं सरकार द्वारा चिकित्सा का भार उठाया जाना स्वीकार कर उन्होंने अपने वर्ग के साथ कोई विश्वासघात तो नहीं किया है। निराला को भी उत्तर प्रदेश सरकार ने आर्थिक अनुदान देना चाहा था और भारतेंदु तो बहुत पहले ही कह चुके थे कि धन ने मेरे पुरखों को खाया है मैं धन को खाऊँगा।

यह नहीं कि केशव पाठक चाहते तो आराम से नहीं रह सकते थे। वे अत्यंत संपन्न परिवार के थे। उनके पिता श्री लक्ष्मीप्रसाद पाठक पर लक्ष्मी और सरस्वती की समान कृपा थी। जबलपुर के प्रतिष्ठित ज्योतिर्विद, संस्कृतज्ञ, धारावाहिक वक्ता, कवि, दो बड़े मकानों के स्वामी, कुचैन मंदिर के ट्रस्टी, राजा गोकुलदास के पुरोहित की संतान को साहित्य और शान-शौकत का वातावरण जन्म से ही मिल गया था। मझले भाई पंडित कमलाकर पाठक सफलता पूर्वक 'कर्मवीर' का संचालन करते थे। उन्होंने लक्ष्मीबाग एवं बँगले का निर्माण कराया था। उनके पास मोटर थी एवं आराम के सभी साधन। पाठक जी का अधिकांश जीवन शान-शौकत में बीता। पिता, बड़े भाई, मझले भाई सभी की अकाल मृत्यु ने केशव पाठक को ही घर का मुखिया बना दिया था पर वे थे कवि-हृदय और काव्य-रसिक। अग्रेजों की मृत्यु के बाद वे घर के मुखिया तो बने, पर व्यावहारिक बात यह हुई कि थोड़ा-बहुत जो बंधन था वह इन बड़ों के जाते ही दूर हो गया और पाठक जी उन्मुक्त पक्षी के समान जीवन-नभ में उड़ने लगे। साहित्य की लत उनको बचपन से ही लग गयी थी। तरुण होते-होते यही उनका ओढ़ना बन गया और यही बिछौना। फल यह हुआ कि वे इंटर की परीक्षा में दो बार अनुत्तीर्ण हुए। सन १९२८ में वे बी० ए० के लिए राबर्ट्सन कॉलेज में प्रविष्ट हुए। वे बी० ए० में पढ़ते थे परंतु सारा समय सत्यनारायण कविरत्न के समान साहित्य-सौंदर्य-पान और साहित्य-सर्जन में व्यतीत होता था। 'वे जीवन भर स्वतंत्र रहे, तबीयत से, मन से, आदत से और जिम्मेवारियों से।' इस असाधारण व्यक्ति की काव्य के क्षेत्र में असाधारण सफलता और जीवन के क्षेत्र में असाधारण असफलता या तो उनकी साहित्यिक धुन को है या उनके शुभैषियों को। साहित्य के क्षेत्र में जो लोग पाठक जी को बनाने वाले सिद्ध हुए वही लोग सांसारिक व्यवहार के क्षेत्र में उनको 'बिगाड़ने' वाले। उनको बिगाड़ने वालों में सर्वप्रथम

उनके पिता थे। पाठक जी के पिता, जैसा कि कहा जा चुका है, संस्कृत के प्रकांड पंडित थे—वे चाहते थे कि उनका पुत्र अंग्रेज़ी की असाधारण क्षमता प्राप्त करे। उन दिनों अंग्रेज़ी की विद्वत्ता की धाक थी। केशव पाठक धुरंधर अंग्रेज़ीदाँ थे। बड़े-बड़े लोग पं० लक्ष्मीप्रसाद पाठक से मिलने आते और वे केशव पाठक को बड़े गौरव से लोगों के सामने प्रस्तुत करते। केशव पाठक का धुरंधर अंग्रेज़ीदाँ होना संस्कृतज्ञ पिता का सबसे बड़ा गौरव था। इस निरंतर प्रशंसा में केशव पाठक का संतुलन बिगड़ गया तो क्या आश्चर्य ! पर पिता का प्यार इस अंग्रेज़ीदाँ बेटे पर इसलिए भी बहुत था कि माँ केशव को शैशव अवस्था में ही छोड़ कर चल बसी थी। शीतला माता की कृपा से कवि की एक आँख चली गयी थी और दुर्बल तो वे थे ही। बेटा बिना माँ का हो, मेधावी हो, और सबसे बढ़ कर दुर्बल हो तो वह पिता को प्यारा होता ही है।

दूसरे बिगाड़ने वालों में बाबू रामानुजलाल जी का स्थान है। रामानुज बाबू ने केशव पाठक को रातोंरात विख्यात बना दिया। कुछ लोग पाठक जी को मदिरा-पान का रोग लगाने का दोष रामानुजलाल श्रीवास्तव को देते हैं पर वे (केशव पाठक) कहते थे कि पहले अपने सहपाठी डब्ल्यू० आर० एन्थोनी (अब संसद् सदस्य) के साथ पी चुके थे। केशव पाठक एवं रामानुज बाबू एक प्रधान शिष्य और प्रमुख गुरु के रूप में प्रसिद्ध थे। केशव पाठक के घनिष्ठ मित्रों में पं० विष्णुदयाल भार्गव, एडवोकेट; पं० बृजविलास शुक्ल, एडवोकेट (उमर ख़ैयाम के भूमिका-लेखक); पं० पुरुषोत्तमलाल तिवारी (प्राध्यापक, हितकारिणी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, जबलपुर), श्री रहमत ख़ाँ 'इशरत' थे और उन्हें बिगाड़ने में इनका श्रेय भी कम नहीं है। पर सबसे बड़ी बिगाड़ने वाली थीं श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान। रामानुज बाबू के शब्दों में 'अखिल भारतीय ख्यातिप्राप्त कवियत्री का स्नेह-सम्मान मिल गया तो फिर क्या रहा।' ये सभी कवि और साहित्यकार उन दिनों मध्य प्रदेश के और विशेषकर जबलपुर के साहित्य-जगत के किरीट थे। और इन सब पर पाठक जी हावी रहा करते थे। इन सभी लोगों ने स्वयं पर उनका हावी रहना स्वीकार कर लिया था और केशव पाठक का बिगड़ना आसान कर दिया था।

केशव पाठक की जीवनी और उनका व्यक्तित्व यदि औपन्यासिक है तो उनका कृतित्व प्रगीतात्मक। उनके नाम की गूँज हिंदी में पहली बार १९३० के आसपास सुनायी पड़ी थी। यह समय छायावाद के चरम ऐश्वर्य का था। प्रसाद, निराला और पंत के सामूहिक संकल्पों और उनकी समवेत साधना से हिंदी काव्य इतिहास में छायावाद की संपूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। 'झरना', 'आँसू', 'परिमल', 'अनामिका', 'गीतिका', 'पल्लव' आदि लिखे जा चुके थे। हिंदी का पाठक छायावाद की सौंदर्य-दृष्टि, मानवतावाद, अवसादमयता और रहस्यमय वायवीयता से अभिभूत था। ऐसे परिवेश में केशव पाठक अपना काव्य-सर्जन कर रहे थे। उनका हिंदी मौलिक कृतित्व स्वच्छंदतावादी शैली में लिखा हुआ चिरंतन के संधान का मनोरम प्रगीत है। काव्य में सत्य और शिव का संधान उनका विषय नहीं है। वे संपूर्णतः सौंदर्यासक्त कवि हैं। सौंदर्य भी उनके लिए वही काम्य है जो रमणीय है। निराला की भाँति वे विराट एवं भयावह सौंदर्य के प्रति मुग्ध नहीं हैं, कोमल अथच मनोरम प्रकृति एवं अभिसारमयी, मनुहारवती परम सत्ता

ही उन्हें आकृष्ट कर सकने में समर्थ दीखती है। वे 'जन, वन, सुमन, उडुगन, किरन, घन' के कवि हैं। उनके काव्य में निरंतर, किरन सुमन, समीर, ज्योत्स्ना, मधु-सुरभि के दर्शन होते हैं। उनके काव्य में स्थान-स्थान पर 'झर-झर झरने वाले निर्झर', 'खग-दल-कल-कूजन-मुखरित वन', 'मधु सौरभ-मत्त भ्रमर', 'तरल सरिता की लोल लहर' और 'विहगदल के मधु बोलों' का उल्लेख हुआ है। किंतु प्रसाद, निराला, पंत जैसे छायावादी कवियों की भाँति केशव पाठक के काव्य में प्रकृति का स्वतंत्र अंकन नहीं हुआ है। वे प्रकृति पर इसलिए लुब्ध नहीं हैं कि वह स्वयं सुंदर है बल्कि उनके सम्मोहन का कारण यह है कि वह किसी चिर सुंदर की सतत सहचरी है:

पिक उठा अमराई में बोल,
बहा दक्षिण से मलय समीर,
यूथिका के कुंजों में चला,
कुसुमधन्वा का सुरभित तीर।
आह, तन्मयता की वह प्रात,
हो रहा था कुछ-कुछ उन्मेष,
दे रहे थे प्राणों को प्राण,
हृदय को हृदय अभी संदेश।

केशव पाठक के अधिकांश प्रगीत किसी रहस्य सत्ता से अभिसार की व्याकुल कथा कहते हैं। केशव पाठक का चिरंतन कबीर के प्रियतम की भाँति ज्योतिर्मय एवं योगगम्य अथवा निराला के उपास्य की भाँति चिंताश्रित एवं बुद्धिगम्य नहीं है। वह महादेवी के प्रिय की भाँति अनुभूतिगम्य और छायामय है। जिस प्रकार महादेवी का काव्य विशुद्ध अर्थों में छायावादी न रह कर रहस्यवादी हो गया है उसी प्रकार केशव पाठक के काव्य को भी प्रमुख रूप से रहस्यवादी कहना ही अधिक संगत प्रतीत होता है। 'उनका काव्य एक चिरंतन और असीम प्रिय के प्रति निवेदित है, जिसमें अशेष कोमलता है, सारी प्रकृति उसी की प्रतीक्षा में निस्तब्ध सजगता से खड़ी है, आसन्न मिलन और आसन्न विरह के दो ध्रुवों में दोलायित जीवन की धूप-छाँह ही उनके काव्य की वर्ण्य वस्तु है'—अज्ञेय जी की महादेवी-काव्यविषयक यह अवधारणा केशव पाठक की काव्य-प्रकृति को भी संपूर्ण निष्ठा और अशेष प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करती है। पाठक जी का काव्य चिरंतन से अभिसार और मनुहार का काव्य है। कवि कभी अपने प्रियतम से रूठता है और कभी पूर्णतः तादात्म्य का अनुभव करता है। वह चिरंतन को अपने हृदय की निःशेष तन्मयता से प्यार करने को उद्यत है किंतु वह चरम समर्पण के क्षणों में भी अपनी इयत्ता और सत्ता को तिरोहित नहीं होने देना चाहता :

गरिमा के फेनिल सागर का यदि व्यक्तित्व न होता,
लघिमा की उर्मिल सरिता का भी अस्तित्व न होता,

कैसा वह अस्तित्व कि जो व्यक्तित्व-प्रधान न हो।
जीवन-दान न दो।

विह्वलता के क्षणों में कवि स्वयं को प्रभु के चरणों पर समर्पित तो कर देता है और उसका यह समर्पण प्रभु को स्वीकार भी होता है किंतु सावधान क्षणों में उसका अहं अपने इस कातर कृत्य पर खेद प्रगट करने की तैयारी करता है किंतु यह खेद भी उसकी अपनी नादानी पर नहीं, सर्वज्ञ आराध्य की नादानी पर है:

किसने तुम्हें देव माना था, किसने तुमको पूजा?
किसने तुमसे कभी कहा था, तुम-सा और न दूजा?
हो भी चूक किसी की, पर तुम तो नादान न हो।
जीवन-दान न दो।

महादेवी की ही भाँति केशव पाठक प्रिय का मिलन नहीं, प्रिय का विरह ही सुखकर मानते हैं। अंतर केवल इतना है कि महादेवी का प्रिय उसके आह्वान पर भी कभी सजग क्षणों में नहीं आता—अपने प्रिय पर स्वयं के अधिकार में उनका निस्संशय आत्म-विश्वास नहीं है। उनकी सहज द्रवित सूक्ष्म संवेदना स्वयं को निरंतर प्रिय की कृपा पर आश्रित मानती है। केशव पाठक के प्रणय में स्वाभिमान और समर्पण में आत्म-विश्वास है। वे यदि प्रतीक्षा को ही सुखद मानते हैं तो किसी विवशतावश नहीं बल्कि स्वेच्छा से:

ठहरो, आज न आने दूँगी।
हाँ-हाँ, मैं बंदिनी सदा की, मुझ पर चिर अधिकार तुम्हारा,
पर भागे आये हो तुम भी, मैंने जब-जब तुम्हें पुकारा।
हुई प्रतीक्षा ही जब सुख, बिछुड़न का दुःख न लाने दूँगी।
अब मैं तुम्हें न आने दूँगी।

ऊपर केशव पाठक के आध्यात्मिक काव्य की तुलना महादेवी की रहस्यवादी कविताओं से की गयी है। वस्तुतः महादेवी और केशव पाठक के काव्य में ऐतिहासिक संदर्भों और काव्यगत उपलब्धियों की जितनी समांतरता है वह आश्चर्य में डालने वाली है। महादेवी की ही भाँति केशव पाठक का आगमन छायावाद के पूर्ण ऐश्वर्य युग में हुआ था। महादेवी की ही भाँति उनकी रचनाएँ भी छायावाद की मुख्य विशेषताओं से प्रायः रिक्त थीं। काव्य-वस्तु में ही नहीं, शब्द-विन्यास और छंद-विधान में भी केशव पाठक की कविताएँ महादेवी की प्रतिवेशिनी प्रतीत होती हैं। केशव पाठक के काव्य में अनेक बार छायामय, हठीले, रँगीले, दीपक, बंदिनी, चपला इत्यादि शब्दों का ऐसा प्रयोग हुआ है जैसा हमें महादेवी के काव्य में मिलता है। यह बात अनेक उदाहरण

दे कर सिद्ध की जा सकती है। किंतु हमारे इस कथन का यह आशय न समझा जाय कि केशव पाठक महादेवी से प्रभावित हैं। वस्तुतः रहस्यवादी कवियों को हृदय की सूक्ष्म व्यंजना के लिए जिस कठिन भूमिका पर कार्य करना पड़ता है और उसकी अभिव्यक्ति के लिए जिस प्रतीकात्मकता और लाक्षणिकता का आधार लेना पड़ता है वह संसार के प्रायः सभी रहस्यवादी कवियों में एक अद्भुत समानता स्थापित करने में समर्थ होती है। यही कारण है कि कबीर और रवींद्र, दो विभिन्न युगों के कवि होते हुए भी अपने रहस्यवादी काव्य में आश्चर्यजनक रूप से समान दिखायी पड़ते हैं। फिर केशव पाठक अत्यंत पंडित व्यक्ति और सजग पाठक थे। महाकवि निराला को तो वह उस्ताद ही कहते थे। अंग्रेजी के रोमांटिक कवि कीट्स एवं शेली उन्हें विशेष प्रिय थे, बंगला के टैगोर भी। अतः यह स्वाभाविक ही है कि विश्व-साहित्य के श्रेष्ठ रहस्यवादी कवियों की प्रवृत्तियों को उन्होंने स्वायत्त कर लिया हो।

ऊपर केशव पाठक के जिस काव्य की चर्चा की गयी है, उसकी वर्ण्य वस्तु अप्राकृत या अति प्राकृत सत्ता ही है। प्राकृत जनों में उन्होंने केवल तीन को ही अपना अर्घ्य अर्पित किया है—विश्व-शांति के उपासक बापू को, प्राणों के प्राण पं० जवाहरलाल नेहरू को और गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर को। पर यह स्पष्ट ही लक्षित होता है कि केशव पाठक की वृत्ति नेहरू और गुरुदेव में जितनी रमती है उतनी गांधी में नहीं। उनके काव्य में यद्यपि मानव के सहज आस्थामय और उदात्त रूप के स्वर अनेक स्थलों पर गूंजे हैं पर मूलतः वे नेहरू और टैगोर की भाँति अभिजात सौंदर्य पर आसक्त हैं। रामानुज बाबू के साक्ष्य पर हमें ज्ञात होता है कि टैगोर उनके प्रिय थे, पर वे टैगोर के उपासक नहीं थे। पर उनके काव्य के साक्ष्य के आधार पर असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि गुरुदेव के व्यक्तित्व और काव्य से उनको जिस तृप्ति का बोध होता है उतना किसी अन्य के काव्य और व्यक्तित्व से नहीं। गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर के महाप्रयाण पर लिखा गया उनका लंबा शोक-गीत हिंदी के श्रेष्ठतम शोक-गीतों में परिगणित करने योग्य है:

> **आज यह दिन आ गया, संदेश मैं उसका सुनाऊँ।**
> **ज्योति ले खद्योत की मैं, सूर्य को दीपक दिखाऊँ।**
> **फूटते हैं बोल मेरे जब न वह जग में रहा है,**
> **और दुहरा रहा केशव वही जो उसने कहा है।**

केशव पाठक की गंभीर और मौलिक हिंदी रचनाओं की संख्या अधिक नहीं है। 'केशव पाठक की काव्य-कृतियाँ' नामक उनके एकमात्र काव्य-संग्रह में जो उनकी मृत्यु के पश्चात जबलपुर साहित्य संघ द्वारा १९५७ में प्रकाशित हुआ है केवल ३० प्रगीत ही संकलित हैं। इस संग्रह की कविताओं का चयन कवि ने अपने जीवन-काल में स्वयं ही किया था। उनकी संग्रहेतर कविताओं में कुछ कविताएँ जैसे 'शक्ति दे माँ' अब अप्राप्य हो गयी है—निश्चय ही केशव पाठक ने ३१ प्रगीतों के अतिरिक्त भी अन्य मौलिक प्रगीत लिखे होंगे। कहीं ऐसा तो नहीं है कि कवि ने केवल उन्हीं कविताओं को संग्रहणीय माना जिन्हें वह स्थायी साहित्य में परिगणित होने योग्य मानता था।

इन कविताओं में लेखन-तिथि का उल्लेख नहीं है अन्यथा कवि के भाव-विकास एवं मानसिक विकास की व्याख्या करने में सहायता मिलती। ऊपर जिन ३० कविताओं की चर्चा की गयी है वे सबकी सब प्रगीत हैं। 'विश्व-शांति के उपासक के प्रति', 'पंडित जवाहरलाल नेहरू से' और 'गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर के महाप्रयाण पर' नामक रचनाएँ क्रमशः गांधी, नेहरू और रवीन्द्रनाथ पर लिखी गयी गीतियाँ हैं। शेष में कवि की किसी चिरंतन प्रिय से अभिसार एवं मनुहार के सम्मोहक संवाद की रुचिर झाँकियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। इन रचनाओं के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि किसी आख्यानक वर्ण्य वस्तु के अभाव में कवि के पूर्वापर संबंध विरहित क्षणिक संवेदनों के साक्षात्कार के ये प्रगीत विशुद्ध अर्थों में स्वच्छंदतावादी भावभूमि के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस अर्थ में जहाँ वे अपने पूर्ववर्ती गीतकारों से विशिष्ट हैं वहीं अपने समसामयिक छायावादी प्रगीत-स्रष्टाओं से भी। अनुभूति के चरम आवेश एवं संवेदन के नितांत वैयक्तिक अथच आध्यात्मिक परिवेश के कारण वे हिंदी प्रगीत काव्य के इतिहास में एकमात्र महादेवी जी के ही समतुल्य सिद्ध होते हैं। यदि छायावाद के पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध युगों की कल्पना अत्यंत सूक्ष्म एवं शास्त्रीय न जान पड़े तो यह कहा जा सकता है कि केशव पाठक छायावादी युग के उत्तरार्द्ध के कृती कवि हैं। जिस प्रकार छायावाद के पूर्वार्द्ध की त्रयी के रूप में प्रसाद, निराला एवं पंत को अविचल प्रतिष्ठा प्राप्त है उसी प्रकार छायावाद के अवरोह की त्रयी के रूप में महादेवी और रामकुमार वर्मा के साथ केशव पाठक को भी निश्चित स्थान का अधिकारी माना जाना चाहिए।

हिंदी में मौलिक कविताएँ लिखने के अतिरिक्त केशव पाठक का कृतित्व अनेक बालोपयोगी और उर्दू कविताएँ लिखने में भी प्रकट हुआ है। बालोपयोगी कविताएँ उन्होंने सुभद्राकुमारी चौहान की होड़ में लिखी थीं। ये कविताएँ सरल हैं और बाल मानस में कवि की सहज पैठ की सूचना देती हैं। दूसरे संदर्भों में पाठक जी के व्यक्तित्व को उजागर करने में भी सहायक हुई हैं। केशव पाठक को जीवन भर स्कूल-कॉलेजों के सीमित और संकुचित दायरों से जो वितृष्णा थी वह इन पंक्तियों में अंकित है:

> **मैं साफ़-साफ़ कहता हूँ, शाला मैं न कभी जाने वाला,**
> **तू क्या जाने, कैसे होते पंडित जी, क्या होती शाला?**
> **कंकर-पत्थर चुन-चुन कर जैसे एक जेल बनवाते हैं,**
> **जिसमें घुस कर आधे दिन को हम दुनिया से खो जाते हैं।**
> **माँ वही मास्टर बनता है, रहता है जो बैठा-ठाला,**
> **थोड़ा सा मिलता ज्ञान जिसे, जिस पर जड़ देते हैं ताला।**

उर्दू कविताओं में प्रायः हुस्न और इश्क का ध्यान हुआ है पर उस दरम्यानी परदे का भी चर्चा है जो कितनी रंगीनियों से रूकश है। उर्दू वाले पाठक जी की इन उर्दू कविताओं को बहुत महत्ता नहीं देना चाहते पर समसामयिक राग-द्वेष से ऊपर उठ कर जब 'नदीम' (जो केशव पाठक की उर्दू कविताओं का तखल्लुस है।) की कविताओं का मूल्यांकन होगा तब भारतीय अध्यात्म

का उर्दू के परिधान में व्यक्त करने की सफलता के लिए केशव पाठक का नाम अवश्य उल्लेखनीय माना जायगा।

केशव पाठक को रातोंरात जिसने स्थायी कीर्ति के चरम शिखर पर पहुँचा दिया वे न तो उनकी मौलिक आध्यात्मिक रचनाएँ हैं और न ही उनकी बालोपयोगी अथवा उर्दू कविताएँ। उमर खैयाम की रुबाइयों के अद्वितीय हिंदी अनुगायक के रूप में केशव पाठक सहसा ही हिंदी पाठकों और सुधी जनों के कंठहार बन गये। २६ वर्ष की आयु में ही उमर ख़ैयाम के प्रथम हिंदी अनुवाद पर वे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, स्वर्गीय डॉ० हीरालाल, स्वर्गीय मातादीन शुक्ल, डॉ० धीरेंद्र वर्मा, डॉ० रामकुमार वर्मा, पंडित इलाचंद्र जोशी जैसे दिग्गजों और मनीषियों की आँखों में चढ़ गये। पाठक जी के इस अनुवाद से हिंदी काव्य का प्याला गुरु जी के शब्दों में 'सुरा और सुंदरी के प्रतिबिंबों से परिपूर्ण हुआ।' हालावाद, जिसमें सर्वाधिक ख्याति बच्चन जी ने पायी, पाठक जी कृत उमर खैयाम की रुबाइयों के अनुवाद की देन है। उमर खैयाम का यह अनुवाद 'प्रेमा' के प्रथम अंक से ही धारावाहिक प्रकाशित हुआ था जिसे देख कर हिंदी में उमर खैयाम की रुबाइयों के अनुवादों की झड़ी लग गयी थी। 'प्रेमा' और केशव पाठक का वही संबंध है जो सरस्वती और मैथिलीशरण गुप्त का। जिस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त हिंदी को सरस्वती-संपादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की भेंट थे उसी प्रकार केशव पाठक 'प्रेमा'-संपादक रामानुजलाल श्रीवास्तव के। जिस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त सरस्वती के 'स्टार पोयट' थे और उनकी रचनाएँ 'सरस्वती' की 'स्टार फ़ीचर', उसी प्रकार 'प्रेमा' के प्रकाशन के प्रारंभ से ही केशव पाठक 'प्रेमा' से अनन्य भाव से संबद्ध थे। केशव पाठक के अनुवाद के पहले केवल मैथिलीशरण जी गुप्त ने उमर खैयाम की इनी-गिनी रुबाइयों का अनुवाद 'प्रेमा' में प्रकाशित करवाया था। किंतु वह उनकी प्रवृत्तियों का द्योतक कार्य न होने के कारण अत्यंत स्थूल और कृत्रिम जान पड़ता है। पाठक जी ने ख़ैयाम की रुबाइयों का अनुवाद बड़ी तबीयत से और पूरी तरह उसमें डूब कर किया है क्योंकि ख़ैयाम का जीवन-दर्शन पाठक जी का जीवन-दर्शन था। खैयाम की ही भाँति प्रस्तुत क्षण उनका चरम उपभोग्य था और ख़ैयाम की ही भाँति उनकी रगों में रक्त कम हाला ज्यादा बहती थी। खैयाम के अंग्रेज़ी रूपांतरकार फिट्ज़ेराल्ड की भाँति पाठक जी भी अपने अनुवाद में निरंतर परिवर्तन एवं संशोधन करते रहे। ख़ैयाम फ़ारसी में बहुत बड़ा कवि नहीं माना जाता। अंग्रेज़ी में 'फिट्ज़ेराल्डित' होते ही वह सहसा विश्व-कवि बन गया। पश्चिम मद्य की मादकता तो जानता था मद का दर्शन या आध्यात्मिकता उसके लिए सर्वथा अपरिचित थी। फिट्ज़ेराल्ड ने अंग्रेज़ी-विश्व को सुरा नहीं दी, सुरा का दर्शन भर दिया, किंतु पाठक जी ने उमर खैयाम से सुरा का दर्शन भी लिया और सुरा भी। केशव पाठक हिंदी के उमर ख़ैयाम भी हैं और फिट्ज़ेराल्ड भी। उमर खैयाम की भाँति केशव पाठक में सृष्टि और सृष्टिकर्ता के प्रति विद्रोह भाव परिलक्षित होता है। साथ ही उमर खैयाम की भाँति चिरंतन के प्रति उनमें एक अखंड विश्वास का भाव भी बद्धमूल है। फिट्ज़ेराल्ड की भाँति वे अपने अनुवाद को निरंतर 'अधिक शब्दशः' और 'अधिक सरल' करने की कोशिश में लगे रहे।

केशव पाठक आने वाली पीढ़ियों द्वारा अपने व्यक्तित्व के लिए भी उतने ही स्मरणीय होंगे जितने अपने कृतित्व के लिए। मुझे तो यह लगता है कि उनका कृतित्व ही नहीं, उनका व्यक्तित्व भी विलक्षण एवं अद्वितीय है। वे कभी भी गतानुगतिकता के क़ायल नहीं रहे। उनका व्यक्तित्व उनके काव्य की ही भाँति विसंगतियों एवं विरोधाभासों से भरा पड़ा है। वे सेठ गोविंद-दास और पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र जैसे राजनीतिज्ञों के आत्मीय थे किंतु इस आत्मीयता में राजनीति कहीं नहीं थी, विशुद्ध साहित्य था। मिश्र जी और पाठक जी का स्नेह-संबंध आजीवन बना रहा। रामानुज लाल जी के शब्दों में 'मिश्र जी उन्हें बहुत मानते थे, वे बहुत कम किसी के यहाँ जाते हैं पाठक जी के यहाँ जाते थे।' केशव पाठक सच्चे और गहरे दोस्त थे। यद्यपि वे कभी किसी की सक्रिय सहायता कर सकने में असमर्थ थे। पाठक जी का जीवन उपन्यास या नाटक का जीवन है वैसे वे 'ड्रामा' व 'फ़िक्शन' कभी नहीं पढ़ते थे। आलोचना उन्होंने खूब पढ़ी थी और मौखिक आलोचना में उनकी सानी नहीं थी। किंतु यदि कभी कोई उनसे आलोचना लिखने या लिखवाने की बात करता तो उत्तर देते: 'मुझसे कुली-कबाड़ी का काम नहीं होता।' उनकी बुद्धि इतनी तीक्ष्ण थी कि जो करते उसी में पटु हो जाते। वे आला दर्जे के प्रकाशक, फ़र्नीचर निर्माता, वकील और डॉक्टर थे पर विश्वविद्यालयीन परीक्षाओं में वे या तो असफल होते रहे या तृतीय श्रेणी मिलती रही। वे जान्सन के समान उद्दंड थे और सत्यनारायण कविरत्न के समान सरल। निराला के समान कसरत से उन्हें उतना ही शौक था जितना संगीत से। वे खाते नहीं थे, कितना ही अच्छा भोजन और कितना ही अच्छा आतिथ्य क्यों न हो। उन्हें शौक बस पीने का था। उनका जीवन बस पीने के लिए ही बन गया था। शराब उन्हें क्षण-क्षण मौत की ओर ले जा रही थी पर जीवन से और जिजीविषा से उनकी गिरफ़्त कभी नहीं छूटी। वे अतियों के व्यक्ति थे और अतियों के कवि। उनके जीवन का एक छोर बॉदलेयर की भाँति जीवन की समस्त उदात्तताओं का स्पर्श करता है तो दूसरा समस्त कलुषों का। उनके काव्य का एक सिरा मदिरा में डूबा हुआ है और दूसरा इस लोक के उस पार जा कर चिरंतन को अपने रसपाश में बाँधने की शक्ति रखता है। वे इंद्रियातीत चिरंतन से अकातर अभिसार के कवि हैं पर उससे अभिसार करने से पहले इंद्रियगम्य धरा की समस्त रमणीक झाँकियों को भर-भर नयन देख लेना चाहते हैं:

हे चिरंतन, ठहर कुछ क्षण, शिथिल कर ये मर्म-बंधन,
देख लूँ भर-भर नयन जन, वन, सुमन, उडुगन, किरन, घन
जानता अभिसार का चिरमिलन पथ मुझको बुलाता।
कौन गाता? कौन गाता?

पूछा जा सकता है कि केशव पाठक ने अपने काव्य में युग और जीवन के किन प्रश्नों का समाधान उपस्थित किया है अथवा अपने युग और समाज के किसी प्रश्न ने उन्हें बेचैन बनाया भी है या नहीं। वे राजनीति के व्यक्ति नहीं थे। वे नीति के व्यक्ति भी नहीं थे। राजनीति अथवा नीति से वियुक्त काव्य में अपने ज़माने के प्रश्नों की आँच बहुत तेज़ी से नहीं जलती।

उनका जीवन भारतेंदु, निराला अथवा मुक्तिबोध की कोटि का भले हो पर उन का काव्य रवींद्रनाथ अथवा महादेवी से ही तुलनीय है। किंतु यहाँ यह भी कहना आवश्यक जान पड़ता है कि उनके पास न तो रवींद्रनाथ जैसा उदात्त दर्शन है और न ही महादेवी जैसी सतत काव्य-साधना। साथ ही यह भी सही है कि उनके काव्य में गुरुदेव के काव्य की उदात्तता भले ही विद्यमान न हो पर महादेवी के काव्य की आध्यात्मिक मधुरिमा और काव्यात्मक अलंकृति तो निश्चय ही विद्यमान है। वे मात्रा के नहीं, गुण के कवि हैं। मदिरा ने जिसकी नाड़ी-शक्ति क्षीण कर दी हो वह न तो उदात्त दर्शन की उपलब्धि के लिए ही प्रयासवान होगा और न ही प्रदर्शन की उपदेयता के प्रति ही सचेष्ट। केशव पाठक का व्यक्तित्व किसी का अनुगमन नहीं करता, न ही उनका काव्य। यदि उन्होंने अपनी आत्मक्षयी प्रवृत्ति एवं आदतों को स्वयं पर हावी न होने दिया होता और वे आत्म-नियम अथवा अनुशासन का परिचय दे सके होते तो उनके काव्य का रूप क्या होता, यह एक थोथी जिज्ञासा मात्र हो सकती है जिससे किसी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता। वे और उनका काव्य अपनी संपूर्ण सीमाओं के साथ ही हमारा अध्येय है। उनकी संभावनाओं की चर्चा न करना ही अच्छा है। उनका काव्य और उनके काव्य की मूल प्रेरणा भूमिका जिस प्रकार समीक्षक के लिए पहेली है उसी प्रकार उनका जीवन और जीवन की अचेतन वृत्तियाँ मानोवैज्ञानिक के लिए। उनके कृतित्व और व्यक्तित्व का विश्लेषण करने वाले को एक साथ समीक्षक, मनोवैज्ञानिक और चिकित्सक होना होगा। हिंदी काव्य के विशद और विस्तृत मंच पर केशव पाठक को कहाँ और कौन सा स्थान मिलेगा, इसकी भविष्यवाणी करना संभव नहीं है। कवि की प्रकाशन-उदासीनता और स्व-स्थापन-विरक्ति ने, साथ ही हिंदी आलोचकों की स्वभावगत अन्यमनस्कता ने, केशव पाठक के काव्य का समग्र और संतुलित आकलन नहीं होने दिया है। किंतु इस बात की भविष्यवाणी असंदिग्ध स्वरों में की जा सकती है कि जब हिंदी का पालग्रेव आयगा और बीसवीं शताब्दी के हिंदी काव्य की 'गोल्डेन ट्रेज़री' के लिए श्रेष्ठतम और मार्मिक कविताओं का चयन होगा तो उसमें केशव पाठक की 'पूछ रहे हो मेरा घर', 'कौन गाता' और 'गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर के महाप्रयाण पर' जैसी कविताओं को छोड़ देना उसके लिए कठिन होगा।

—असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग,
हमीदिया स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
भोपाल (म० प्र०)

विवेचना | रमेशचन्द्र शाह

आत्महत्या के विरुद्ध

रघुवीर सहाय का कविता-संग्रह। राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। प्रथम संस्करण १९६७। मूल्य ५.००।

हिंदी आलोचना में आसान और साफ़-सुथरे सूत्रों के सहारे विषय-प्रतिपादन की एक सहज स्वीकृत परिपाटी चली आ रही है। मैं इसी परंपरा का अनुसरण करता हुआ प्रस्तुत विवेचना के संदर्भ में विषय-प्रवेश के निमित्त एक बड़े आसान और साफ़-सुथरे सूत्र से प्रारंभ करूँगा—यह कह कर कि 'आत्महत्या के विरुद्ध' का काव्य एक दोहरी आत्म-चेतना का काव्य है, जिसमें कवि की 'कांशंस',—या कि मुक्तिबोध के शब्दों में अंतरात्मा की पीड़ित विवेक-चेतना—सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

प्रश्न उठता है कि यह आत्म-चेतना, यह 'कांशंस' क्या है और क्यों है ? यह भी कि इसमें ऐसा अभूतपूर्व क्या है जो इसके रचनागत औचित्य को प्रमाणित कर सके।

आज का युग भावनाओं और विचारों की सार्वजनिक विकृति का युग है। आज सर्जनात्मक कल्पना जितनी अधिक जागरूक, जितनी अधिक चेतना-संपन्न है, उतनी ही गहरी उसकी साँसत है : आज व्यवस्था नहीं, व्यवस्थाएँ हैं; दृष्टि नहीं, दृष्टियाँ हैं। दृष्टि-संपन्नता का तक़ाज़ा ही एक प्रकार से निरर्थक हो चला है क्योंकि दृष्टियाँ अनेक हैं और हरेक के दावे हरेक से बढ़-चढ़ कर हैं। आज की औसत मानसिकता—और बुद्धिजीवी मानसिकता भी, काफ़ी हद तक—विचार-दर्शनों से आक्रांत, और वस्तुतः विचार-द्रोही मानसिकता है। ऐसी हालत में—भीतर-बाहर की इस सर्वव्यापी सड़ाँध के बीच रचना के क्या विकल्प संभव रह जाते हैं ? . . .

या तो कवि इस सँड़ाध को पहचानने से ही इन्कार कर दे और किसी विगत व्यतीत मूल्य के अंतर्गत ही जीवन के नये दबावों को भी अर्थ और संगति प्रदान कर के आग्रह से प्रेरित रहे।

या कि वह इस सड़ाँध को पहचान-सूँघ कर उसको ही अपनी कलात्मक (?) संवेदना का खाद्य बना ले और उसके आर-पार देखने की कोशिश करने की बजाय उसी में लिप्त हो कर

उसको ही तरह-तरह के रंग-बिरंगे नमूनों में पेश करे और इसी को अपना कला-धर्म—अपना रचनात्मक उन्मोचन बना और मान ले। ऐसी कविताओं की कड़वाहट भी हराम की कड़वाहट होगी—स्वभावतः।

या एक परिष्कृत आत्म-रति जो बौद्धिक चेतना के खतरों से अपेक्षाकृत सुरक्षित है : एक नाज़ुक कल्पनाप्रवण संवेदना जो आप अपना कवच बन जाती है। इस प्रकार की रचनाओं में एक प्रकार की गहराई भी हो सकती है : चेतना-सतहों की आक्रांति से सुरक्षित गहराई, जिसकी सार्थकता दूसरे भिन्न अपेक्षाकृत अधिक आत्मविद्ध और संघर्षशील रचनाकारों के लिए संदिग्ध ही रहेगी, क्योंकि उनकी दृष्टि में वह सुखार्जित और पलायनप्रवण होगी।

या फिर एक असहाय भटकती हुई करुणा. . .व्यक्ति और व्यक्ति तथा व्यक्ति और वस्तुओं के जटिल संबंधों या संबंधहीनता के एहसास के प्रति एक तीव्र—किंतु अनियंत्रित और अतिरिक्त सी संवेदनशीलता. . .जो अपनी अतिरिक्तता से ही घबड़ायी हुई है।

या फिर इस अत्यधिक संवेदनशीलता को निर्मम विश्लेषण और एक प्रकार की अतिरिक्त बौद्धिक आत्म-चेतना द्वारा संतुलित और एकाग्र करने की चेष्टा. . .जैसी कि हम रघुवीर सहाय की कहानियों और कविताओं में प्रतिफलित देखते हैं। चूँकि यहाँ पर कवि की अपनी मानुषिक संवेदना और कलात्मक संवेदना के बीच के अंतराल को पाटने की, और इसके साथ ही साथ दोनों के बीच के अनिवार्य तनावों से भी निपटने की प्राणपण कोशिश में लगा दीखता है—बिना किसी विचार-दर्शन का सहारा लिये; अतएव यह अपेक्षा स्वाभाविक ही हो जाती है कि इस प्रकार की रचनाशीलता में सार्थकता का धरातल न केवल भिन्न, बल्कि अधिक संतोषप्रद भी होगा। क्योंकि यहाँ रचनाकार यथार्थ को अनुभव के कई स्तरों पर एक साथ छूने की बेकली में जिस अनिवार्य आत्म-चेतना की बेचैनी का वरण करता है वह उसे एक ओर तो आत्मतुष्ट और आत्मरत होने से बचाती है, और दूसरी ओर उस निष्करुण 'सिनिसिज़्म'—अर्थात अनर्जित तटस्थता—से, जो कि अपनी बौद्धिक खंडनात्मक आलोचन-क्षमता को ही सब मूल्यों का मूल्य मानता है और उसके बल पर ही सब कुछ को खोखला और झूठा सिद्ध करते चले जाने में ही अपना परम पुरुषार्थ मानता है।

'आत्महत्या के विरुद्ध' का कवि एक अजीब सी दोहरी आत्म-चेतना की क्षुरधार पर चलता प्रतीत होता है। जितना वह आत्मग्रस्त है, उतना ही, बल्कि उससे कहीं अधिक वह परिवेशग्रस्त है। परिवेश और कवि-चेतना के बीच प्रतिकूल वेदनीयता का होना कोई अभूतपूर्व बात नहीं है। ये तनाव बहुत पहले से कविता में अभिव्यक्त होते चले आये हैं। संयोग की बात है कि इस संग्रह को हाथ में लेने से पूर्व मैं डिवाइना कोमेडिया ('नरक') पढ़ रहा था। और इन कविताओं के अध्ययनानुभव के दौरान मुझे वह प्रकरण याद आता रहा जिसमें फ़्लोरेंस-नागरिकों के नैतिक अधःपतन, राजनीतिक भ्रष्टाचार एवं मूल्यमूढ़ अवसरवादिता के प्रति कवि की बौखलाहट—उसका रोष एवं क्षोभ—चरम तीव्रता के साथ व्यक्त हुए हैं।

क्या दाँते को अपने फ़्लोरेंस से, रघुवीर सहाय के हिंदुस्तान की अपेक्षा कम शिकायतें रही होंगी ? . . . कम रही हों या ज्यादा, असल फ़र्क़ इतना ही है—और यह बुनियादी फ़र्क़ है,

रचनागत समस्याओं की दृष्टि से—कि दाँते की वैसी तमाम संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ—उनका सारा रौरव—एक सहज स्वीकृत और सुंदर ज्ञानात्मक चेतना के अनुशासन में स्वयं को ढाल सकता था। ज्ञान और अनुभव की अनेकानेक परिधियाँ तब भी थीं; किंतु वे सब एक ही केंद्र से नियमित और अनुशासित थीं—यहाँ तक कि स्वयं ब्रह्मांड की कल्पना संकेंद्रित गोलकों के रूप में सहज प्राप्त थी। मानो ब्रह्मांड स्वयं कवि-चेतना का ही प्रक्षेप था – कवि-चेतना भी जैसे एक केंद्रीय चेतना थी—अनेक समकेंद्रिक चेतनाओं का पुंज, जिनके केंद्र में पैठ कर कवि की सर्जना-शक्ति काम कर सकती थी—अपनी सारी संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यवस्थित कर सकती थी—बिना किसी अतिरिक्त आत्म-चेतना और तज्जन्य अपव्यय के।

आज वस्तु-स्थिति यह है कि बिना अतिरिक्त आत्म-चेतना के खतरों का वरण किये आदमी सही-सही सचेतन भी स्वयं को महसूस नहीं कर सकता : सही-सही और पूरा-पूरा आत्म-चेतन भी नहीं हो पाता वह। क्योंकि वह 'आत्म' है ही कहाँ जो उसकी चेतना का केंद्र बन सके और उसे सार्थक सर्जन का आश्वासन दे सके। आत्माभिव्यक्ति ! . . .यह शब्द ही आज निरर्थक प्रतीत होने लगा है क्योंकि आज रचनाकार के लिए यह निश्चय करना भी कठिन होता जा रहा है कि आत्माभिव्यक्ति के नाम पर जिस 'आत्म' की अभिव्यक्ति की जाती रही है, वह अभिव्यक्ति के योग्य है भी या नहीं। इससे भी बड़ी साँसत यह है कि यह आत्म ('सेल्फ़') सभी मोर्चों पर अनवरत पिटता जा रहा है; भीतर और बाहर, चारों ओर से उस पर मार पड़ रही है : न केवल यह कि वह स्वयं अपनी रक्षा कर पाने में—वस्तुओं के प्रतिरोध में अपनी स्वतंत्र सर्जनात्मक सत्ता बनाये रखने में स्वयं को असमर्थ पा रहा है; बल्कि यह भी कि स्वयं अपनी रक्षा और स्वतंत्रता के प्रति भी एक अजीब उदासीनता उसमें घर करती जा रही है।

मगर मुश्किल यह है कि बिना अपनी पहचान पाये—बिना अपनी रचनात्मक जिजीविषा का प्रमाण और औचित्य उस पहचान में उपलब्ध किये कवि सार्थक रचना में प्रवृत्त भी नहीं हो सकता। अपनी पहचान की—अपने होने के प्रमाण की तलाश रचनाकार की अस्तित्वगत अनिवार्यता है—मूलभूत संघर्ष है उसका—जिससे सहज छुटकारा नहीं।

तब . . . ? बोध और संवेदन के अलग-अलग अनेकानेक दायरे हैं—एक दूसरे से अहर्निश प्रतिकृत और संघर्षित . . . ; किंतु जिनका कोई सार्थक समायोजन और समाहार एक चेतना के लिए संभव नहीं रह गया। . . .प्रत्येक यथार्थ के जैसे अपने अलग ही गति-चक्र हैं—जो कि प्रत्येक चेतना के लिए और कवि-चेतना के लिए तो खास तौर से,—समान संक्रामकता के साथ गतिशील हैं। ऐसी हालत में कवि या तो अपने भीतर ही निर्वासित हो जाय—जलसमाधि-सी ले अपनी चेतना के भीतर . . . ; और वहीं से प्रतीक्षा करे—अनुभव और यथार्थ की सारी परिधियों के संकेंद्रित होने की . . . ; या फिर वह दूसरा खतरा उठाये और अपने अहरह विचलित चेतना-केंद्र को भीतर ही भीतर गहराते हुए स्थिर करने का प्रयास छोड़ कर गतिशील यथार्थ के सबसे तेज़ भँवर में अपनी संवेदना की नाव छोड़ दे। और वहीं पर—उसी चकराहट के बीच—एक दूसरे केंद्र की तलाश में हाथ-पाँव पटकता रहे, जहाँ उसे अपने 'आत्म'-वान होने का, अपनी रचनात्मक संभावनाओं को प्रत्यक्ष करने का, या कम से कम अ-रचना के आतंक को

ही सही-सही विंदुओं पर पकड़ पाने का, और उनसे स्वयं को जूझते हुए अनुभव करने का ही संतोष प्राप्त हो सके।

स्पष्ट ही, ऐसे कवि अपनी कविता को विशुद्ध वर्तमानता में से—सतहों की भीड़ में से रचते हैं जहाँ कि न तो दार्शनिक गहराइयाँ साथ दे सकती हैं, न कोलाहल की अवनी से दूर किसी सुरक्षित अंतर्जगत में प्रतीकों की खोज का ही कोई प्रयोजन हो सकता है : भाषा जहाँ अपनी ही निहित और अर्जित साहित्यिकता को पग-पग पर प्रतिरोध देती चलती है।

निश्चय ही 'आत्महत्या के विरुद्ध' के कवि को यह दूसरा मार्ग ही अपने लिए श्रेयस्कर लगा है। यहीं पर उनके काव्य-संग्रह के नामकरण का औचित्य भी समझ में आने लगता है : 'आत्म'-हत्या के विरुद्ध अर्थात अपने क्षत-विक्षत 'आत्म' को—दूसरे शब्दों में, अपने 'आत्म' होने की अवशिष्ट संभावना को—नितांत 'अनात्म' और आत्मरोधी यथार्थ की सबसे तेज़ भँवर में डाल कर ही उसके अस्तित्व को स्थापित करने का जोखमभरा प्रयास... । चेतना के एक केंद्र के विचलित हो जाने पर, एक दूसरे केंद्र की ओर अपनी चेतना को एकाग्र करने की कोशिश, जहाँ कि यथार्थ का दबाव और यथार्थ की चुनौतियाँ सबसे अधिक प्रखर, प्रत्यासन्न और प्रासंगिक प्रतीत होती हैं :

न सही यह कविता
मेरे हाथ की छटपटाहट ही सही
यह कि मैं घोर उजाले में खोजता हूँ
आग
जब कि हर अभिव्यक्ति
व्यक्ति नहीं
अभिव्यक्ति
जली हुई लकड़ी है, न कोयला, न राख।

एक महत्वपूर्ण तथ्य, जिसका विवेक हमको रखना पड़ेगा, यह है कि 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविता 'सेटायर' नाम के अस्त्र का भरपूर प्रयोग करते रहने पर भी ठीक-ठीक वही चीज़ नहीं है जिसे 'सैटिरिकल पोयेट्री' कर के जाना जाता है। 'सैटिरिकल पोयेट्री' के पास एक निश्चित केंद्रविंदु होता है : संवेदना का एक नियामक केंद्र, जिसके बौद्धिक विश्वास के बल पर हर विकृति, हर विचलन, हर व्यतिक्रम को पकड़ा और अलगाया जा सकता है—आविष्ट किया जा सकता है अपने आवेगों की एकनिष्ठ शक्ति से। प्रस्तुत संग्रह में जहाँ **भीड़ में मैकू और मैं** और **टोपी वाला बाजा** जैसी प्रखर व्यंग्य-कविताएँ हैं, वहीं **लोकतंत्रीय मृत्यु** जैसी रचना भी है जहाँ व्यंग्य की स्थिति असली कविता के चुंबकीय क्षेत्र से बाहर ही झलक मारती प्रतीत होती है : व्यंग्य और काव्य का अद्वैत सिद्ध नहीं हो पाता। और व्यंग्य के आने से पहले ही कविता संपूर्ण हो जाती है। इससे भी आगे वे कविताएँ हैं जहाँ संपूर्ण मानवीय स्थिति में कवि का

उलझाव उसे एक ऐसी मनोदशा में पहुँचा देता है जो व्यंग्य की पहुँच से परे है : जहाँ व्यंग्य के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं बचती; न केवल व्यंग्य, बल्कि कवि-सुलभ करुणा भी जहाँ निष्प्रयोजन और अतिरिक्त लग उठती है। इस संदर्भ में संग्रह की एक कविता **अभी तक खड़ी स्त्री** का उद्धरण देना चाहूँगा, आप स्वयं पढ़ कर देखें और पहचानें उस दृष्टि को जो कवि की अपनी, ख़ास अपनी दृष्टि है :

निरखता रह उसे कवि
न कह
न हँस
न रो
कि वह
अपनी व्यथा इस वर्ष भी नहीं जानती।

क्या कारण है कि श्रीकांत वर्मा की कविता में मेरी काव्यगत सहानुभूति और कल्पना स्वयं को ज्यादा मुक्त और उत्शृंखल महसूस करती है बनिस्बत सर्वेश्वरदयाल सक्सेना या कि रघुवीर सहाय के? . . .ऊपर से देखने पर तीनों प्रबल अहं-चेतना से ग्रस्त मालूम पड़ते हैं: रघुवीर सहाय सबसे कम और सर्वेश्वर सबसे ज्यादा। मगर कविता के भीतर और गहरे उतरने पर हम पाते हैं कि श्रीकांत की अहं-चेतना रचना-प्रक्रिया के दबाव में कुछ इस क़दर पारदर्शी हो जाती है, जैसे वह एक निष्क्रिय माध्यम भर हो। वस्तुओं और स्थितियो की भरपूर संवेदनाओं और व्यंजनात्मक टकराहटों द्वारा यथार्थ को संप्रेषित करने का माध्यम। . . .कवि अपेक्षाकृत निरीह-निरपेक्ष लगने लगता है : उसका अहं एक प्रकार से अपनी कविता की खोज का अनिवार्य साधन भर रह जाता है।

सर्वेश्वरदयाल की कविता का तेवर दूसरा है। जब श्रीकांत वर्मा कहते हैं : **मैं महुए के वन में एक कंडे की तरह सुलगना, गुँगुवाना, धुँधुवाना चाहता हूँ**, तब उनके अहं का उनकी कविता में वैसा सीधा हस्तक्षेप नहीं महसूस होता, जैसा कि सर्वेश्वर की **सर्प-मुख के सम्मुख** शीर्षक कविता में **फिर भी मैं साहस का एक गीत गाना चाहता हूँ** में। इसका क्या कारण है? . . . क्या यही नहीं कि श्रीकांत वर्मा में यंत्रणा को अपनी ओर आकर्षित करने का, उसे सीधे-सीधे कपूर की तरह कविता में उद्वाष्पित करने का सामर्थ्य है—बिना अपने सहने वाले व्यक्ति को उद्घोषित किये, बिना उससे अभिभूत या द्रवीभूत हुए; जब कि सर्वेश्वर अपनी कविता को अपने सहनशील व्यक्तित्व के सीधे प्रक्षेप से—अर्थात रचना को रचना-बाह्य विक्षेप से बहुत कम बचा पाते हैं। श्रीकांत का 'मैं' अधिक आक्रामक होते हुए भी अधिक निर्लिप्त जान पड़ता है—काव्य का अपेक्षाकृत शुद्ध और विरल माध्यम, जब कि सर्वेश्वर का 'मैं' अधिक करुणाविगलित, अधिक निवेदनमय होते हुए भी अधिक आत्मकेंद्रित और काव्य की दृष्टि से ज़रूरत से ज़्यादा आग्रहशील,

ज़रूरत से ज़्यादा उपस्थित और मुखर हो जाता है। शायद यही कारण हो कि उनकी भाषा ज़्यादा प्रतिरोध देती है——काव्यार्थ की स्वतंत्र संघटन-प्रक्रिया को। शब्द की स्वतंत्र सर्जन-शक्ति——क्रीड़ातत्व——अकस्मात उभर कर उनके कवि-व्यक्तित्व को अभिभूत नहीं कर पाती। **मैं अपने ऊलजलूल एकांत में सारी पृथ्वी को बेल रहा हूँ**. . .यह पंक्ति श्रीकांत वर्मा ही लिख सकते थे। हालाँकि प्रसंगवशात यह भी कह दूँ कि इससे भी एक क़दम आगे मुझे विपिन अग्रवाल की कविता लगती है जो इस 'ऊलजलूल एकांत' को भी चीरती हुई 'मैं' के यथार्थ को और ज़्यादा छान देती है——और भी ज़्यादा अमूर्त और स्वतंत्र कर देती है उसे——बिंब की भी पहुँच से परे. . . **एक झूठ-सा ही मेरा अस्तित्व रहा / बच्चों के स्कूल में / भरे काफ़ी हाउस में / ज़िंदा हूँ अभी मैं शोर-गुल-सा।**. . .

इन दोनों के साथ जब हम रघुवीर सहाय की कविता को रख कर देखते हैं तो कुछ असामान्य तथ्य पेश होते हैं। रघुवीर सहाय की स्थिति इन दोनों से और एक तरह से हिंदी के अन्य सारे कवियों से इस मानी में अलग और विशिष्ट सी है कि वे इन सबसे (विपिन अग्रवाल का अपवाद अलग महत्व रखता है, और अलग विश्लेषण की अपेक्षा रखता है।) अधिक आत्म-चेतन (सेल्फ़ कांशस) कवि हैं। आत्म-चेतन अपने यहाँ एक बड़ा गोल सा शब्द हो गया है, अतः अपने मंतव्य को धार देने के लिए मैं कहूँ कि रघुवीर सहाय अहं-चेतना के कवि न हो कर 'आत्म-चेतना' के कवि हैं। जो कवि अपनी अनुभूति से ज़्यादा अपनी अनुभूति को सुधारते रहने के प्रति प्रतिबद्ध है, जो एक ओर कहता है : **जब दुख के भार से मन थकने को आय / पैरों में कुली की-सी लपकती चाल छटपटाय / इतना सौजन्य दो कि दूसरों के बक्स-बिस्तर घर तक पहुँचा आयें**. . .और दूसरी ओर लिखता है कि **मैं बदमाशों, अधपगलों और मक्कारों के लिए एक ज़िम्मेदारी महसूस करता हूँ। पर जो कुछ रचता हूँ, सिर्फ़ अपनी ज़िम्मेदारी पर रचता हूँ——या फिर नहीं रचता। फ़िलहाल अपने को रचने योग्य बनाये रखने में लगा रहता हूँ।**. . . उसकी काव्य-चेतना का उसकी आत्म-चेतना से कितना और किस प्रकार का संबंध है, यह समझ पाना कठिन नहीं। ज़ाहिर है कि इस दोहरी आत्म-चेतना के अनुशासन में से छन कर आयी हुई कविता——जब भी वह कविता होगी——उक्त दोनों प्रकार की कविताओं से कहीं अधिक दुस्साध्य, कहीं अधिक 'जोखम से निखरी हुई' होगी। और शायद इसी नाते अधिक सार्थक भी। क्योंकि इसके मूल में रचना-प्रक्रिया और जीवन-प्रक्रिया के असाध्य संतुलन को साधने की ज़िद——दोनों को संवेदना के एक ही बिंदु पर एकाग्र करने की माँग है। बौद्धिक ईमानदारी की तार्किक परिणति के लिहाज़ से यह रचना-दृष्टि विपिन अग्रवाल की रचना-दृष्टि के समकक्ष देखी जा सकती है हालाँकि दोनों कवि एक दूसरे से बहुत ही भिन्न हैं। समकक्ष वे इस दृष्टि से हैं कि विपिन अग्रवाल में भी अपनी कविता को अपनी बौद्धिक ईमानदारी की चरम तार्किक परिणति पर ही उपलब्ध करने का आग्रह है। प्रतिश्रुति भिन्न है——उनकी प्रतिश्रुति 'कांशस' के प्रति न हो कर विशुद्ध वैज्ञानिक बुद्धि के प्रति है जो उन्हें 'यथार्थ क्या है ?' के दार्शनिक-कलात्मक प्रश्न की ओर उन्मुख न कर के 'यथार्थ कैसे प्रकट होता है ?' की विशुद्ध वैज्ञानिक जिज्ञासा से प्रतिबद्ध कर देती है और उन्हें मात्र उस 'कविता' की खोज के लिए प्रेरित करती है जहाँ रचना-प्रक्रिया उक्त 'यथार्थ

के प्रकट होने की प्रक्रिया' से अभिन्न और एक हो जाय : दोनों के बीच कोई दूरी ही न रह जाय।

यह एक खतरनाक मार्ग है : जो न तो बुद्धिसम्मत काव्य की माँग करता है; न बौद्धिक काव्य की; बल्कि इससे आगे. . .बहुत आगे स्वयं बुद्धि के, स्वयं बौद्धिकता के काव्य को आविष्कृत करने का आग्रह है। रघुवीर सहाय का मार्ग भी कम खतरनाक नहीं। पर वह भिन्न है—लगभग विपरीत तक उसे कहा जा सकता है, उसके वैशिष्ट्य को समझने के लिए। देखना यह है कि वह किस प्रकार भिन्न है?

इस संग्रह की एक कविता है : 'रचता वृक्ष'। मेरी समझ में यह कविता कवि की अंतरंग रचना-प्रक्रिया को उसी प्रकार रोशन करती है जिस प्रकार कुँवर नारायण की 'माध्यम' शीर्षक कविता :

> **ठीक-ठीक जानता है वह उस अल्पना का रूप**
> **चलती सड़क के किनारे जिसे आँकेगा**
> **और जो परिवर्तन उसमें हवा करे**
> **उससे उदासीन है।**

इन पंक्तियों में 'की-फ्रेज़' है—'चलती सड़क के किनारे'। . . .जो हमें एकाएक 'सेब' कहानी की प्रारंभिक पंक्ति का स्मरण दिला देता है। पहली ही पंक्ति हमें लेखक के उस खास भीतरी यथार्थ में—उस 'विशेष प्रकार के एकांत' में बिठा देती है जो उसके आत्म-चेतन कवित्व की परिभाषा ही नहीं, उसका लक्ष्य, उसका आदर्श भी है : **चलती सड़क के किनारे! एक विशेष प्रकार का एकांत।. . .**

यों तो इन पंक्तियों का प्रत्येक शब्द सारगर्भ है : **ठीक-ठीक जानता है वह उस अल्पना का रूप. . .**। यह 'ठीक-ठीक' जानना महत्वपूर्ण है—काव्य-रचना में निहित एक विशेष प्रकार की जागरूकता एवं दायित्व-चेतना के संदर्भ में। 'ठीक-ठीक जानता है वह उस अल्पना का रूप'...। कवि को स्वभावतः यह तो इष्ट ही है कि रचना में रचना-तत्वों की स्वतः संयोजना, स्वतंत्र प्रक्रिया का महत्व भी कम न हो क्योंकि आखिरकार वह 'रचता वृक्ष' है; और जो वह रच रहा है वह भी अंततः 'रूप' ही है, 'अल्पना' ही है। तथापि, इसके बावजूद वह उस स्वतंत्रता के मोह—'कलात्मक' मोह—के प्रति भी सजग है और यथासंभव उससे बचने को कटिबद्ध है। क्योंकि विवेक-चेतना की—'मानवीय अंकुश'—की धार कहीं से भी कुंद न हो जाय, यह आशंका उसे बराबर घेरे रहती है। उस 'क्षुरधार' पर चलते हुए रचना का सुख भी कभी-कभी 'अनधिकृत उन्मोचन' सरीखा लग सकता है। यह ऐसी स्थिति है जहाँ कलात्मक निस्संगता का आदर्श भी उसे कोई आड़ या कवच नहीं प्रदान कर सकता—इस पीड़क 'आत्म-चेतना', इस 'बौद्धिक विकलता' के विरुद्ध। जो कि कवि के रूप में उसे अपने सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वार्थ के प्रति भी अतिरिक्त सजग और शंकाशील बनाये रखती है।

रघुवीर सहाय की बौद्धिक विकलता केवल सामाजिक-राजनीतिक जीवन की विसंगतियों को ले कर ही नहीं है : वह स्वयं उनके कवित्व के प्रति भी उन्मुख है। (हालाँकि इस विकलता में कुँवर नारायण की दार्शनिक-आध्यात्मिक उद्विग्नता नहीं है; न वैसी बुनियादी प्रश्नाकुलता का दबाव) एक समय था जब **गमले में उगा हुआ नन्हीं पत्तियों वाला हरा सजग बिरवा** उन्हें अपनी सार्थकता का बोध कराता था; जीवन में अपने कवि-धर्म से, अपनी ही भाँति अर्पित होने का विश्वास दिलाता था। वह विश्वास, वह सीधे अपने अंतर्जीवन के स्रोत तक पहुँच जाने की क्षमता शायद आज भी उनमें है, पर उसमें एक ट्रैजिक गहराई आ गयी है :

जैसे एक उजाला उजाड़ सा शीतल
और उसमें एक हरा अँखुवा
और उसमें आकाश के रंगों की झलक
जैसे कोई एक आँख से हँसे, एक से रोये।

वह मेरी नफ़रत थी वहाँ और मैं अकेला था और शाम थी
न कोई कोशिश थी, न कोई काम था, न कोई दर्द।

इस कविता में **शहर से बाहर, बररी हुई दरकी हुई धरती पर झुके हुए आकाश में अपने को खोले हुए उस पवित्र भय** का साक्षात्कार रघुवीर सहाय की कवि-संवेदना के इतिहास का एक और सार्थक मोड़ है।

ऊपर कहा गया कि रघुवीर सहाय को बौद्धिक विकलता केवल मात्र सामाजिक जीवन की विसंगतियो की ओर ही उन्मुख नहीं है; वह स्वयं उनके कवित्व, स्वयं उनकी आत्माभिव्यक्ति की दुर्निवार माँग के प्रति भी उतनी ही निर्ममता के साथ सक्रिय है। अर्थात वे जितने जगद्‌विद्ध हैं उतने ही आत्मविद्ध भी हैं। अब उनके यथार्थान्वेषण में वह **अतुकांत जिज्ञासा** भी शामिल हो गयी है जो **काव्य को नहीं मानती। विचित्र को भी जैसे नहीं पहचानती।**

पहले रघुवीर सहाय का आग्रह था : **सही ढंग से वास्तविकता को आत्मसात करना प्राथमिक हो और कला के माध्यमों में उसकी अभिव्यक्ति उसका अनुषंग।** इस आग्रह में रचना-प्रक्रिया का एक अनावश्यक सरलीकरण निहित था क्योंकि कोई भी कवि—यदि वह कवि है तो—इस प्रकार अपने साक्षात्कृत यथार्थ और उसकी अभिव्यक्ति के बीच प्राथमिक और अनुषंग के रिश्ते की कल्पना नहीं कर सकता। वास्तविकता कैसे भी आत्मसात की गयी हो, वह अभिव्यक्ति के दौरान ही कवि के लिए सही वास्तविकता और सार्थकता ग्रहण कर सकती है, उसके पहले नहीं।

संतोष का विषय है कि यहाँ आ कर रघुवीर सहाय के कवि ने शब्द की स्वतंत्र सर्जना-शक्ति को, वास्तविकता के साथ उसके निर्णायक आचरण के महत्व को भी स्वीकार किया है :

शब्द अब भी चाहता हूँ
पर वह कि जो जाय वहाँ वहाँ होता हुआ
तुम तक पहुँचे
चीज़ों के आरपार दो अर्थ मिला कर सिर्फ़ एक
स्वच्छंद अर्थ दे
मुझे दे।

'चीज़ों के आरपार दो अर्थ मिल कर सिर्फ़ एक स्वच्छंद अर्थ' देने की प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जहाँ दो भिन्न मिज़ाजों के कवि जैसे श्रीकांत वर्मा और रघुवीर सहाय भी परस्पर सहानुभूति का एक धरातल पा जाते हैं।

इन कविताओं में एक कर्मण्य आक्रोश है जो भाषा में भी प्रतिफलित हुआ है। यहाँ वास्तविक स्थितियों की नाटकीयता का भरपूर इस्तेमाल किया गया है। शब्द और वाक्यांश जीवित हरकतों की सी अनुभूति कराते हैं। रघुवीर सहाय में क्रियाओं का प्राचुर्य है। सार्थक व्यंजनागर्भित क्रियाओं का ऐसा समर्थ काव्योपयोग दुर्लभ है। विशेषण अपेक्षाकृत विरल हैं। इन क्रियाओं में एक जीवंत तात्कालिकता है। आक्रोश का पैनापन देखना हो तो :

भीमकाय भाषाविद हाँफते डकारते हँकाते
अंग्रेज़ी की अवध्य गाय

या

मेरे शब्द एक लहरियाता दोगाना बन कर
उकड़ूँ बैठे लोगों पर भिनभिनाने लगे।

उक्त पंक्तियों में क्रियाएँ किसी काव्य-बिंब से कम सार्थक और प्रभविष्णु नहीं हैं। 'भिनभिनाने' का प्रयोग एक पूरे समाज और समय के खालीपन, बासीपन, दैन्य और जड़ता को उघाड़ कर रख देता है। कवि के आक्रोश को यह एक ऐसी व्यापक करुणा से संयुक्त कर देता है—ऐसी काव्यात्मक विद्युन्मयता प्रदान कर देता है उसके व्यंग्य को—कि पाठक एकबारगी अचकचा जाता है। स्पष्ट है कि व्यंग्य की ऐसी मार और पहुँच इसी भाषा के द्वारा संभव हुई है। इसी प्रकार जब कवि लिखता है : **गोल शब्दकोश में अमोल बोल तुतलाते** तो वह एक सजीव क्रिया के द्वारा कितनी सारी आलोचना एकाग्र कर जाता है। दायित्वहीन निःसत्व विद्वत्ता के आडंबर को, भाषा के साथ किये जा रहे मनमाने खिलवाड़ को, मानवीय संदर्भ से टूटे हुए शब्दों के निर्लज्ज व्यवसाय को, शब्दों की सार्वजनिक दुर्गति को यह एक पंक्ति चीर कर रख देती है।

इसी प्रकार राजनीतिक नेतृत्व की अकल्पनीय स्तरहीनता, दिमाग़ी दिवालियापन और नैतिक भोथरापन... सहसा कौंध उठता है निम्नलिखित पंक्तियों में :

दिल्ली के मंत्री का भाषण निचोड़ कर
पिपियाता हुआ जो फ़िल्मगीत बंबई ने लिक्खा

रघुवीर सहाय की काव्यभाषा में यह सामर्थ्य है कि महज़ अभिधाओं की टकराहट से भरपूर व्यंजना उत्पन्न कर सके :

बरसों के बाद जब फिर मिले
तो देखा कि वे सब काम से लगे थे
जो कभी बिना वजह कुछ करने को तैयार थे।

समय आ गया है जब-तब कहता है संपादकीय
हर बार दस बरस पहले मैं कह चुका होता हूँ कि समय आ गया है

न केवल चालू क्रियाओं का, बल्कि सचमुच के शीर्षकों और नामों का भी खूब रचनात्मक उपयोग किया है कवि ने

अत्याचारी हत्या किये जाय जब तक कि स्वर्णधूलि
स्वर्णशिखर से आ कर आत्मा के स्वर्णखंड किये जाय

और

देख आये दिग्विजयनारायणसिंह ने
क्या किया भोलारामदास का
अलग-अलग खाती पकाती इस जाति ने
क्या किया जात पूछने के बाद प्यास का

एक संयोगलब्ध तुक में से इतनी दूरगामी व्यंजना की सृष्टि, इतने गहरे व्यंग्य की उद्भावना निश्चय ही कोई आसान काम नहीं। चीज़ों के आरपार दो अर्थ मिला कर एक स्वच्छंद अर्थ की सृष्टि करने का एक धरातल यह भी है।

रघुवीर सहाय की काव्यभाषा इस मानी में अलग पड़ जाती है कि वह बिंब और लय के जाने-पहचाने उपकरणों से स्वतंत्र, उनके अतिरिक्त भी सर्जनात्मकता का एक धरातल पा लेती है। मात्र इस दृष्टि से भी यह कहना कोई अत्युक्ति न होगा कि उन्होंने हिंदी में सामाजिक

राजनीतिक काव्य को फिर से—बल्कि सचमुच अब जा कर—संभव बनाया है। हालाँकि हिंदी एक झगड़ालू भाषा रही है—अनेक आंदोलनों की संवाहिका—मगर आधुनिक काव्य के पिछले दो-तीन दौर इस दृष्टि से दरिद्र ही रहे और काव्यभाषा एवं जनभाषा के बीच का अंतराल बढ़ता ही गया। नयी कविता ने निश्चय ही इस अंतराल को पाटने की कोशिश की। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि छायावाद ने भाषा के पेंडुलम को जिस छोर तक खींचा था, सही संतुलनावस्था को पाने के लिए उसका विपरीत छोर तक पहुँचना आवश्यक हो गया था। याने कि कोई समर्थ कवि आ कर संवदना के स्तर पर नितांत सांप्रतिक—दैनंदिन सामाजिक जीवन के यथार्थ स्पंदनों को, और अभिव्यंजना के स्तर पर भाषा के सबसे औसत और चालू स्तर को पकड़ता। हिंदी कविता के संदर्भ में इस प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता इसलिए भी बहुत अधिक थी कि हिंदी भाषा स्वयं अपने आपमें एक भीड़ है जिसकी लोकतांत्रिक व्यवस्था अभी हाल की ही घटना है और जिसका इतिहास कुछ इस कदर ऊबड़-खाबड़ रहा है कि अच्छे-खासे निर्माण तो बीच-बीच में अलग-अलग झाँकते हैं; पर कोई अक्षुण्ण स्मृति-परंपरा, कोई ऐसा चरित्र उसका नहीं स्थिर हो पाया जो औसत मानसिकता के संस्कार का अंग बन जाय। निश्चय ही विकास के इन सोपानों पर अनवरत परिष्कार का आग्रह भी सार्थक आग्रह था और अब भी है। किंतु अपने चरित्र की किसी बुनियादी पहचान की मज़बूत पकड़ के अभाव में परिष्कार की उपलब्धियाँ सभी स्तरों तक संक्रमित नहीं हो पायीं। इस लिहाज़ से भी ज़रूरी था कि जहाँ नयी-नयी क्षमताओं और संवदनाओं का पोषण हो सका, इन थोड़ से वर्षों के अंदर, वहीं, साथ ही साथ जो एक प्रकार से हमारी खास अपनी ज़मीन हो सकती थी—किसी भी अन्य भारतीय भाषा की तुलना में हमारी खास अपनी ज़मीन—सामाजिक-राजनैतिक भाव-बोध की ज़मीन—उससे भी भरपूर संवेदित होने की क्षमता हमारी कविता में जागती : नये परिवेश और नयी उथल-पुथल से उद्भूत नयी-नयी चुनौतियों की प्रतिक्रिया में. . .नयी नागरिक-राजनीतिक चेतना के दबाव में. . .।

यह काम रघुवीर सहाय ने किया है। राजनीति की—वर्तमान युग में मानवीय नियति के सूत्रों का संचालन करने वाली राजनीति की भी—एक कविता हो सकती है, इसका प्रमाण हमें इस संग्रह की कविताएँ देती हैं :

क्या तोड़ूँ क्या तोड़ूँ जो मुझे अपनापा मिले समुदाय में
मोरारजी देसाई की औचक खीस नहीं।. . .

(क्रमशः)

—अंग्रेजी विभाग,
गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज, सीधी (म० प्र०)

समीक्षाएँ

आधुनिक कवि—१३

बालकृष्ण राव का कविता-संग्रह। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। सन १९६८। मूल्य ५.००।

बीसवीं शताब्दी की हिंदी कविता का परिचय देने के लिए हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की ओर से 'आधुनिक कवि' नाम से समय-समय पर प्रमुख कवियों के प्रतिनिधि संकलन प्रकाशित होते रहते हैं। इस माला के तेरहवें भाग में श्री बालकृष्ण राव ने एक भूमिका के साथ अपनी रचनाओं को प्रस्तुत किया है।

श्री बालकृष्ण राव सन् '३० के बाद के कवि हैं और अब तक उनके छह काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, लेकिन इस संग्रह में उन्होंने सन '५० के बाद की ही रचनाएँ दी हैं; अतः ये कविताएँ अपेक्षाकृत परिपक्व कोटि की हैं। प्रारंभ में इन्होंने अंग्रेजी और ब्रजभाषा में भी लिखा; शीघ्र ही इनका झुकाव खड़ी बोली की ओर हुआ। इनके ब्रजभाषा काव्य के गुरुओं में बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जैसे सरस-हृदय कवि थे, खड़ीबोली के गुरुओं में रामनरेश त्रिपाठी जैसे सफल कवि। श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्य से भी इन्हें प्रेरणा मिली। ध्यान से देखा जाय तो रत्नाकर जी, गुप्त जी और त्रिपाठी जी का प्रच्छन्न प्रभाव इनकी रचनाओं में आज तक पाया जाता है। उपयुक्त शब्द के चयन और प्रयोग तथा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, सहजता और सरलता के जो गुण इनकी रचनाओं में पाये जाते हैं, वे काव्य-दीक्षा के इसी शुभ प्रभाव के कारण।

छायावाद-युग में कई प्रकार के कवि पाये जाते हैं। एक वे जो इसके आलोक-स्तंभ बने जैसे प्रसाद, निराला, पंत; दूसरे वे जिन्होंने इसके विरुद्ध विद्रोह किया जैसे दिनकर, भगवतीचरण वर्मा और बच्चन; तीसरे वे जो इससे आंशिक रूप से प्रभावित रहे और बाद में अपने मार्ग पर बढ़ गये जैसे नरेंद्र शर्मा, अज्ञेय और गिरिजाकुमार माथुर। श्री बालकृष्ण राव तीसरी कोटि के कवियों से हैं। उनकी प्रारंभिक कृतियाँ जैसे 'कौमुदी' और 'आभास' छायावादी प्रभाव को व्यक्त करती हैं। स्वतंत्रता के उपरांत वाली कृतियों में उन्होंने प्रगति और प्रयोग दोनों के तत्वों को अपने ढंग से ग्रहण किया। इतना होते हुए भी कोई 'वाद' उनके व्यक्तित्व को ढक नहीं पाया। उनकी रचनाएँ केवल उनकी रचनाएँ हैं।

सन ३० के बाद के कवियों में होने के कारण श्री राव की आत्मपरक रचनाएँ उस अतिशय आत्म-रति के दोष से बच गयी हैं, जो छायावाद की एक विशेष प्रवृत्ति ही बन गयी थी और जहाँ कवि अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिखना जीवन की महत्वपूर्ण

उपलब्धि मानता था। इनकी वस्तुपरक रचनाएँ दो प्रकार की हैं। एक वे जिनमें किसी वाह्य वस्तु को चिंतन की परिधि में खींच लिया गया है जैसे 'आगरा और ताज' 'प्रयोगशाला', 'बाढ़' और 'जननायक'। ये रचनाएँ विवरण-प्रधान नहीं हैं, बल्कि उन्हें ऐसे दृष्टिकोण से देखा गया है, जो उनके एक अछूते पक्ष को उजागर कर सके। दूसरे प्रसाद की रचनाएँ महापुरुषों और प्रसिद्ध व्यक्तियों से संबंधित हैं। इनके द्वारा भी कर्म और व्यक्तित्व की किसी विशिष्टता को उभारा गया है। ऐसी रचनाओं में 'बुद्ध' 'तेनसिंग' और 'हेलेन केलर' को ले सकते हैं। इनमें निहित संवेदना हमारी चेतना को हल्के से स्पर्श करती है। कहीं-कहीं निराशा और जीवन की व्यर्थता के अतिवादी सिद्धांतों को निरस्त करने के लिए इन्होंने समकालीन कवियों, जैसे 'बच्चन' और 'भारती' से भिन्न दृष्टिकोण को अपनाया है, उदाहरण के लिए 'और भी हैं', तथा 'धुरी और चक्रनेमि' वाली रचनाओं में 'और भी हैं' की कुछ पंक्तियाँ लीजिए :

एक तेरी ही नहीं, सुनसान राहें और भी हैं।
कल सुबह की इंतजारी में निगाहें और भी हैं।

एक नन्हा घोंसला
उड़ता न आँधी में अकेला,
पड़ गया पाला अगर
तो एक टहनी ने न झेला;

सोच लो, क्या बाढ़ आयी है अकेले को डुबाने ?
एक तिनका ढूंढ़ती असहाय बाँहें और भी हैं।

तू अकेला ही नहीं है
जो अकेला चल रहा है,
और तलुओं के तले भी
यह धरातल जल रहा है;

और हैं साथी जिन्हें तूने न देखा है न जाना,
सामने है एक ही, लेकिन दिशाएँ और भी हैं।

श्री राव के प्रेम संबंधी वर्णनों में कुछ अन्य कवियों की सी अनावश्यक मुखरता नहीं पायी जाती। ये रचनाएँ शरीर के स्तर से ऊपर उठ कर उस मानसिकता का परिचय देती हैं जो भावना का सूक्ष्मतर और अधिक आनंदप्रद लोक है। दूसरा पक्ष एक साथी के रूप में अधिक है। अन्य कवियों से भिन्नता की बात इनकी प्रकृति संबंधी रचनाओं में भी पायी जाती है। विषय इन्होंने भी वही संध्या और प्रभात, वसंत और बरसात तथा शिखर और घाटी के लिये हैं, पर उनमें कवि का ध्यान विवरण और अलंकरण की ओर नहीं है। मन पर पड़ प्रभाव का चित्रण ही उनमें मुख्य है। यह चित्रण ऐसा है जिसमें किसी का अनुकरण नहीं पाया जाता।

संकलन के अंत में राव साहब ने रूसी लोक-कथा पर आधारित एक कविता के अतिरिक्त, वर्ड्सवर्थ, मिल्टन और वाल्ट व्हिट्मैन की विशिष्ट रचनाओं या उनके अंशों के अनुवाद भी दिये हैं। इनमें 'अंगारा' नाम की लंबी रचना बहुत सफल बन पड़ी है। प्रारंभ से ही इनका झुकाव और भाव को घेर कर बैठ जाने की ओर कम और सत्य के भीतर निहित सौंदर्य की ओर अधिक है। अनुवादों को पढ़ कर लगता है कि लंबी रचनाओं में इनकी सर्जनात्मक और विधायक शक्ति

अधिक खिलती है; अतः यदि ये कुछ मौलिक खंडकाव्य लिखें, तो इन्हें अधिक सफलता प्राप्त होगी।

श्री राव ने अपनी काव्य-साधना की सभी दिशाओं में मध्यम मार्ग को अपनाया है। इनकी प्रमुख विशेषता भाव, विचार, कल्पना और कला संबंधी वह स्वच्छता है, जिसे किसी भी साहित्य का पाठक अपनी भाषा के कवि से आशा करता है।

—विश्वम्भर 'मानव',

८८८, कल्याणी देवी, इलाहाबाद–२।

इतिहास पुरुषः इतिहास और पुरुष

डॉ० देवराज का काव्य-ग्रंथ। भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। मूल्य : ३.५०।

'इतिहास पुरुष' पढ़ने के पहले मन में बिंब उभरा एक ऐसे पुरुष का जिसका व्यक्तित्व इतिहास के अनेक संश्लिष्ट संवेदनों और बौद्धिक जटिलताओं से निर्मित हो। इसका कारण यह तो था ही कि इतिहास को ही सत्य मानने और उसे आधुनिक जीवन के परिप्रेक्ष में पुरुष व्यक्तित्व देने वाला कवि इसी दिशा में प्रयत्नशील होगा, यह भी था कि मैं डॉ० देवराज के चिंतक और सर्जक से बहुत आश्वस्त रहा हूँ। किंतु ज्यों-ज्यों 'इतिहास पुरुष' पढ़ता गया, त्यों-त्यों पुरुष ढहता गया (गो कि वह पुरुष की ही तरह मानव को संबोधन करता हुआ दिखायी पड़ता है) इतिहास उभरता गया और अंत में लगा कि कवि ने आज के युग में उदित अनेक भाव, चिंतन और रूप-सत्यों को मोहक चित्रों के माध्यम से एक कर दिया है, क्रम-क्रम से उन्हें सजा दिया है। सारे चित्र अलग-अलग हैं। ये सब मिल कर एक विराट संश्लिष्ट चित्र की रचना नहीं करते। यहाँ तक कि 'इतिहास पुरुष' का 'द्वंद्व-बोध' भी द्वंद्व से परे है, अलग-अलग विषम स्थितियों को सरल ढंग से प्रस्तुत कर देने से द्वंद्व नहीं उभरता। कवि ने एक ओर आज के युग की भौतिक समृद्धि को चित्रित किया है दूसरी ओर यह दिखाया है कि इस समृद्धि के बीच भी मनुष्य सुखी नहीं है। वास्तव में इन दोनों स्थितियों का चित्रण अलग-अलग हुआ है; वे एक में बुनी नहीं गयी हैं।

इस रचनात्मक असफलता से अलग हट कर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि कवि की भाव और विचार-भूमि अत्यंत मानवीय और आधुनिक है। वह अध्यात्मवादियों के प्रतिकूल भौतिक सौंदर्य, इच्छाओं और भोग को ससम्मान स्वीकारता है। इन्हें अस्वीकार नहीं स्वीकार करके ही जीवन का सच्चा रस पाया जा सकता है किंतु मूल्यों के अभाव मे यह सब कुछ दो दिन का निलज यौवन ही सिद्ध होगा, मूल्यों से जुड़ कर भौतिक समृद्धि दूसरा ही सौंदर्य उद्भासित करेगी। कवि वर्तमान मूल्यहीनता की ओर दृष्टिपात करता है और फलक पर बिखरे अनेक रंगीन तथ्यों के अंबार में से उन सत्यों को चुनना चाहता है जो मूल्यों की रचना करते हैं, हाँ, वे मूल्य निश्चय ही आज के संवेदन और चिंतन के आलोक में ही रचित हैं। इतिहास पुरुष भोले नर से कहता है:

भोले नर! भूल जा
उस निष्फल, निष्प्रपंच, अशरीरी ब्रह्म को
क्रिया-गुणों से वर्जित
रंग-रूप-गंधों से जग के हुई न कभी
चिति जिसकी अनुरंजित...

इतिहास-जीवन का यह स्वर कवि की अन्य कविताओं में भी मुखर हुआ है। 'क्लिओपेट्रा का पत्र सीता के नाम' में जीवन और काल की विराट उथल-पुथल की विषय-संवेदनाओं से निर्मित क्लिओपेट्रा का पवित्र सरल जीवन जीनेवाली सीता के नाम लिखा गया पत्र वास्तव में नूतन दृष्टि-संपन्न कवि द्वारा लिखा गया पत्र है उनके नाम जो व्यतीत आदर्शों की गठरी ढोते हुए जीवन की विषमताओं से बचते हुए सरल मार्ग से चलते जाना ही श्रेयस्कर समझते हैं। वास्तव में ज़िंदगी तो वह है जो काल के विषम विभिन्न प्रवाहों से जूझती, उनके अनुभवों को भोगती प्रज्वलित होती रहे। क्लिओपेट्रा सीता को लिखती है:

तुमने कब जाना जीना
प्रज्वलित तेज से
आँसू बहते प्राण धुआँते नित्य ही रहे!

कब जीवन का स्वाद ले सकीं तुम दुखियारी
फिरीं डोलती इधर-उधर क़िस्मत की मारी
घेर तुम्हें अब चाटुकार तापस-कन्याएँ
बेचाही, वंचिता सुनातीं ऊँच-नीच की
गढ़-गढ़ कर भावती कथाएँ।

और क्लिओपेट्रा के स्वरों में मानों स्वयं कवि ही जीवन की व्याख्या करते हुए कहता है:

पाप-पुण्य गरुए हैं, पर उनसे भी गुरुतर
है यह जीवन—जीवन का अहसास तीक्ष्णतर;
शांति बड़ी है, किंतु शांति से भी महान है
क्षुब्ध-मनुज-चेतना—जहाँ बिंबित भुवनों की
सारी हलचल, सभी ज्ञान है।

मुझे लगता है कि यह कविता सभी दृष्टियों से 'इतिहास पुरुष' की कविताओं में सबसे सशक्त है। इसमें इतिहास को रचनात्मकता प्राप्त हुई है किंतु इतिहास की कथा पर आधारित दो अन्य कविताओं 'नूरजहाँ' और 'ऋष्यश्रृंग' के बारे में यह बात नहीं कहा जा सकती। 'ऋष्यश्रृंग' में तो पुरानी कथा ज्यों की त्यों प्रस्तुत कर दी गयी है, हाँ चित्र आकर्षक हैं। 'नूरजहाँ' की अन्विति में यह संकेत ज़रूर है कि ज़िंदगी की बीहड़ गलियों से गुज़रना श्रेयस्कर है, नूरजहाँ का जीवन अनुभव की विषमता से संपन्न था जैसा कि क्लिओपेट्रा का। नयी रचनात्मकता से रहित इन प्राचीन कथाओं में यदि कविता है तो चित्रों की योजना और पात्रों की मनःस्थितियों के सुंदर चित्रण में।

'अन्य कविताएँ' की भी कविताएँ अनुभूति और विचार की विशिष्टता से मुक्त प्रायः सामान्य कविताएँ हैं। इनमें कुछ कविताएँ ('कहाँ से', 'इस पार, उस पार', 'जाने वाले से', 'यह जवाहर-दीप भी ले लो') ऐसी हैं जिनमें चित्रों पर टिकी हुई कुछ सामान्य धारणाएँ हैं, जो हैं तो आधुनिक किंतु अति प्रचलित। उन्हें नये चित्रों के माध्यम से उभारने में भी उनका अपनापन और सौंदर्य है। शेष कविताएँ कुछ विशिष्ट हैं—इसलिए नहीं कि उनमें संवेदना या चिंतन का कोई नया अध्याय उद्घाटित हुआ है बल्कि इसलिए

कि उनमें केंद्रीय भाव बड़ी सहजता से विंदु की तरह चमक उठें हैं।

ये कविताएँ अपनी प्राणमत्ता में विशिष्ट न हो कर भी मन को बाँधती हैं, अपने में खींचती हैं। उन्हें पढ़ते समय बड़ी ताज़गी का एहसास होता रहता है। और ऐसा है कवि की विशिष्ट चित्र-रचना-शक्ति, भाषा की जीवंतता और सहजता के कारण। चाहे मनःस्थिति हो, चाहे स्थिति हो, चाहे रूप हो, सबके चित्रों की रचना में एक प्रसन्नता, नवीनता और वांछित गति लक्षित होती है।

'इतिहास पुरुष' की भाषा नयी नहीं कही जा सकती। वह बहुत कुछ रोमांटिक भाषा के समीप है किंतु उसमें नयी भाषा का भी स्पर्श है, अभिजात शब्दावली के साथ-साथ बोलचाल के शब्द इस कुशलता से गूँथे गये हैं कि भाषा को दूसरी ही छवि प्राप्त हो गयी है। 'इतिहास पुरुष' की भाषा में जो यथा-तथ्यता और मितव्ययिता है वह रोमांटिक भाषा में दुर्लभ थी। यह भाषा नयी भाषा न हो कर भी अपनी गति, यथातथ्यता, मित-व्ययिता और कई प्रकार के शब्दों के कुशल समन्वय के कारण बड़ी प्राणवान लगती है। संप्रेषण की स्वच्छता और पारदर्शिता डॉ० देवराज की भाषा और कविता की विशेषता है जो दिनोंदिन दुर्लभ होती जा रही है—कारण बहुत से हो सकते हैं। मसलन नयी कविता में संवेग की जटिलता और द्वंद्व के कारण जो बिंब उभरते हैं, वे अनिवार्य रूप से दुरूहता की सृष्टि कर देते हैं और डॉ० देवराज की कविताएँ काफ़ी हद तक इस संकट से बची हुई हैं।

पहिये के ऊपर

कुंतल कुमार जैन का कविता-संग्रह। हिंदी भवन, जालंधर। मूल्य : ३.५०।

कहा जाने लगा है कि नयी कविता की भी रूढ़ियाँ बनने लगी हैं। रूढ़ियों का बनना या तो उस धारा की संभावना के चुकने का लक्षण होता है या कवि विशेष की मौलिक शक्ति के अभाव का सूचक। जो भी हो, रूढ़ि या फ़ार्मूलों का आधिक्य एक अंत का ही सूचक है और इसी अंत से आरंभ किया है नये कवि कुंतल कुमार जैन ने। यह भी हो सकता है कि कवि को इन कविताओं के भीतर कोई भावी कविता जन्म लेती हुई दिखायी पड़ती हो। तभी तो कवि ने इस संग्रह को आने वाली भविष्य की कविता को सौंपा है।

नयी कविता अपने विशिष्ट रूप में स्वानु-भूत सत्यों की कविता है, इसलिए उसमें जीवन की तथाकथित विराटता और औदात्य भले ही न हो, अनुभव की गहन ऊष्मा है और है अपने अनुभव की आँच में जीवन को देखने की व्यग्रता। अनुभव और दृष्टि की प्रामाणि-कता के आधार पर ही नयी कविता अपने को अपने से पहली कविताओं से अलग करती है। 'पहिये के ऊपर' की कविताओं में अनुभव की आँच के स्थान पर नयी कविता में प्रयुक्त सत्यों, कथ्यों और शब्दों के फ़ार्मूलों से बने शीतल पेय की प्रमुखता है। इन कविताओं को पढ़ते समय लगता है कि आस्था, कुंठा, उल्लास और यातना को मुक्त सत्य के रूप में ध्वनित नहीं किया जा रहा है, बल्कि एक रूपक के वेश में तथ्य बना कर पेश किया जा

रहा है। इसीलिए इन कविताओं में बिंब नहीं, रूपक उभरते हैं।

दूसरी बात यह कि कवि कहीं-कहीं कोई चित्र या बिंब उभारता ही है किंतु वह एक स्थिति मात्र बन कर रह जाता है वह किसी संवेग से जुड़ नहीं पाता। ऐसी कविताओं में कुछ बहुत ही मार्मिक स्थल उभरते हैं जो अपने आपमें तो बड़े सशक्त होते हैं किंतु पूरी कविता में अपने आगे-पीछे के अंशों से जुड़ कर अपने प्रभाव का घनत्व खो बैठते हैं। वास्तव में ये मार्मिक स्थल इस बात का संकेत करते हैं कि कवि में एक संभावना छिपी है जिसे उसे पहचानना है।

कुछ समूची कविताएँ भी अच्छी बन पड़ी हैं जिनमें सुंदर बिंब उभारे गये हैं और रूपकों के माध्यम से तथ्यों को न उभार कर बिंबों को स्वयं बोलने दिया गया है। चूँकि बिंब बोले हैं इसलिए उनके भीतर से अनुभूतियाँ बोली हैं जो विशिष्ट और प्रभावकारी हैं। उनमें ताज़गी का एहसास होता है। 'यात्रा; अँधेरे की', 'याद का एक ध्यानस्थ चुप', 'रात : हममें से हो कर लौटती हुई', 'पूर्वाभास', 'नीली यादों का घर' जैसी कुछ कविताएँ संश्लिष्ट प्रभावसंपन्न और विशिष्ट रचनाएँ हैं।

पता नहीं, जाने या अनजाने कवि ने कुछ 'शब्द-प्रयोग' भी किये हैं। इस प्रकार के फूहड़ प्रयोगों की सार्थकता कवि कुछ समझता हो तो समझे, मुझे तो इसमें ग़लत-सही कुछ कर गुज़रने की हविश के सिवा कुछ दीखता नहीं। ('शिथिलाव', 'प्रतीक्षें', 'महसूसता', 'मिलाव', 'फीकाव', 'चहकावों', 'चुपों', 'मुड़ाव' आदि) यदि इन प्रयोग-चमत्कारों के परे हट कर देखा जाय तो दिखायी पड़ेगा कि कवि के पास एक बहुत ही साफ़-सुथरी भाषा है जिसमें सहजता के साथ-साथ बहाव है, और बड़ी प्रांजलता से संश्लिष्ट अनुभूतियों को भी ध्वनित करने की शक्ति है। आशा करनी चाहिए कि कवि अपने भीतर निहित संभावनाओं को पहचानेगा और रूढ़ियों से अलग हट कर अपना रास्ता स्वयं बनायगा।

—रामदरश मिश्र,
ई ४/११ ए, माडल टाउन, दिल्ली।

समय की धार

शांति भारद्वाज 'राकेश' का काव्य-संग्रह। अंजलि सहकारी प्रकाशन, ३३४-तोपदड़ा, अजमेर। मूल्य : ३.००।

'समय की धार' एक काव्य-संकलन है, जो तीन खंडों (कवि द्वारा प्रयुक्त 'प्रवाहों') में विभक्त है।

पुस्तक का नामकरण कवि ने इसमें आगत 'समय की धार' शीर्षक कविता को आधारभूत मान कर किया है। इस कविता में न कोई ख़ास जान है, न वज़न और न ही काव्यात्मक गरिमा ही सुरक्षित रह सकी है। फिर, संपूर्ण पुस्तक की प्रतिनिधि इसे क्योंकर और कैसे माना जाय। इतनी दुर्बल और बेजानदार कविता पूरे संकलन का प्रतिनिधित्व कवि की दृष्टि में करती है, तब अन्यान्य कविताएँ किस निकष पर मापी जायँ? किंतु एक दृष्टि से जब विचार करते हैं तो निश्चय ही

उक्त शीर्षक की सार्थकता सिद्ध होती है। काल वैज्ञानिक तथा दार्शनिक सत्य है। इसीलिए उसका एक दर्शन और विज्ञान भी निहित होता है। 'धार' में प्रगति की व्यंजना का बोध होता है और प्रगति परिवर्तन का किंचित दूसरा नाम माना जाता है। तात्पर्य यह कि कवि शीर्षक के माध्यम से शायद अपने काव्यात्मक और चिंतनपरक विकास को व्यंजित करना चाहता है।

कवि ने अपने 'वक्तव्य' में समीक्ष्य पुस्तक के संबंध में आग्रह करते हुए कहा है : 'बिखरे हुए विचारों के ये बिखरे हुए पृष्ठ--जिन्हें और तो कुछ नहीं, कह लीजिए--डायरी के पृष्ठ मात्र।' विचार और विश्लेषण करने पर यह बात शत-प्रतिशत सही लगती है कि इस पुस्तक में कवि की दृष्टि किसी विशिष्ट केंद्र-बिंदु पर जम नहीं पाती, प्रत्युत डायरी के पन्नों की भाँति विचारों की प्रत्यूषी किरणों का जाल-गुंफन अवश्य मिलता है। 'समय की धार' कवि की निजी डायरी होने के साथ ही सामान्य पाठक और अंततः राष्ट्र की भी डायरी सिद्ध होती है; क्योंकि सामयिक संदर्भों और समस्याओं को इसमें स्वरायित किया गया है। 'मित्र के नाम' (संदर्भ–भारत पर चीनी आक्रमण) तथा 'सुरक्षा पर हमले : तीन कविताएँ' मेरी इस बात की पुष्टि के लिए काफ़ी हैं।

कवि का यह दृष्टिकोण वड़ा ही ठीक लगता है कि ईसा की मृत्यु सबके गले नहीं लगती। संग्रह की अंतिम कविता में सैनिक की मनःस्थितियों की रेशाओं को उभार-उभार कर संवेदनाओं को ठोक-ठोक कर अभिव्यक्ति को ग्रथित किया गया है।

'समय की धार' के कवि ने अद्यतन मानव के नक़ाबी व्यक्तिव्य की दिशाहीनता का एहसास किया है। आज का मानव विसंगतियों में जीता है। उसका असली व्यक्तित्व तो छिपा-छिपा-सा है और नक़ली व्यक्तित्व को ही जैसे समय की ढाल के समक्ष प्रस्तुत करता है। 'हम' शीर्षक कविता में शांति भारद्वाज 'राकेश' ने कुछ इसी ढंग के व्यंग्यों को वाणी दी है। उनका कहना है कि :

हम सब 'रेस' के घोड़े हैं—
ज़िंदगी की ऊबड़-खाबड़ सड़कों पर
धर्म-ईमान की फ़सलों को रौंदते
बिजली-से कौंधते
व्यवस्था की छाती पर मूँग दलते
बेलगाम—बेसवार दौड़े हैं।

पीठ पर फिर भी बरसते कोड़े हैं—
ज़िंदगी की छाती के नासूर से
रिसते हुए फोड़े हैं।

भरा पेट ले कर भी भूख से चिल्लाते हैं—
चाबुक की मार से घिघियाते हैं—
दुम हिलाते हैं,
जादुई ख़ुशियों के लिए
इज्ज़त का दामन फाड़ कर
चिराग़ जलाते हैं।
जीत पर तालियाँ बजाते हैं—
और ज़िंदा रहने के लिए
फिर उसी अस्तबल में चले जाते हैं।

संग्रह में कहीं-कहीं कवि ने सर्वथा नये प्रतीक और बिंबों का सर्जन किया है, जिससे इनके काव्य-वैशिष्ट्य पर सहज ही प्रकाश

पड़ता है। उदाहरण के लिए ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

रुई के बादलों की खिड़की से
अनायास झाँकता है सूरज,
और घनी वीरान पहाड़ियों में
धूप के टापू तैरते हैं।

इस प्रकार, संग्रह में एक ओर जीवन के नये संघातों, नयी संवेदनाओं और विसंगतियों को अभिव्यक्ति मिली है, दूसरी ओर सामयिक बोध की अनुगूँज सुनायी पड़ती है। यूँ 'समय की धार' की कविताओं का काव्यत्व बिल्कुल दबा हुआ मालूम पड़ता है।

—नंद कुमार राय,
हिंदी विभाग,
हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

जयघोष

कमलेश सक्सेना का कविता-संग्रह। कमलेश प्रकाशन, बाजार सीताराम, दिल्ली—६। मूल्य : ४.००।

प्रस्तुत कविता-संग्रह आद्योपांत पढ़ने के बाद मन उदास हो जाता है। लगता है, व्यर्थ समय बर्बाद किया। बेधड़क बनारसी की एक कविता की एक पंक्ति बरबस मन में उमड़ती है और वह पंक्ति है 'वह दिन कब आयेगा, जब वीर रस सुन कर लोग हँसेंगे।' सचमुच वह दिन भी आ गया है। एक ओर कवि अपनी ऊँची से ऊँची आवाज़ में उद्बोधन देता चीखता है, दूसरी ओर ताशकंद जैसे अपमानजनक आत्मसमर्पण होते हैं। इन संदर्भों में ऐसे कविता-संग्रहों का क्या उपयोग है? (इस सस्ती भावुकता का शिकार मैं भी हो चुका हूँ)। कल का जो भी राष्ट्रीय नेतृत्व रहा है, उसने आज के आत्म-समर्पण (किसी भी बाहरी दबाव के सामने) ही उत्तराधिकार में सौंपा है। हाँ, शास्त्री-युग की एक देन है और वह यह कि हमारे शौर्य के दायरे में प्रहार को भी स्थान मिला। महात्मा गांधी ने तो केवल सहिष्णुता, भूखों मरने, डंडा खाने, जेल जाने और इनक़लाब ज़िंदाबाद चिल्लाते रहने तक ही को बहादुरी की परिधि में रखा था, उस कुहासे को चीर कर चाहे अल्प समय के ही लिए हमने प्रहार तो किया, इसी बीच गांधीवादी संस्कार भी अपना काम करते रहे और जो भी पहला मौक़ा आत्मसमर्पण का मिला, शांति की तलाश के नाम पर हमने घुटने टेक दिये, और शांति की वेदी पर तथाकथित शहादत भी प्राप्त कर ली। सेना ने अपने रक्त से जो कुछ अर्जित किया, हमने उसे अपनी प्रवंचना से गँवा दिया। भारत-पाक-संघर्ष की प्रतिक्रियास्वरूप पचास कविताएँ इसमें संग्रहीत हैं, जिनमें से एक भी उल्लेख्य नहीं है। एक भी कविता ऐसी नहीं है जिसे देख कर ऐसा लगे कि यह राष्ट्र के आहत स्वाभिमान की अभिव्यक्ति है! हर कविता का स्वर अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने का है। लगता है जैसे किसी ऐंद्रजालिक के प्रभाव में कवि ने ये कविताएँ जमूरे की तरह बड़बड़ा दी हैं। भूमिका, किसी पेशेवर सत्ताधारी नेता के तक़रीर जैसी थोथी है।

स्फुलिंग

महेंद्र प्रताप का कविता-संग्रह। दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली। मूल्य : ४.००।

पुस्तक की भूमिका 'दृष्टि-बिंदु' संक्षिप्त साफ़ और सधी हुई हैं। हमारी दृष्टियाँ तो निर्निमेष सोम-बिंदु पर गड़ी हैं! 'भोग, भोग, बस भोग!', ऐसी स्थिति में इस अनवरत रीतते मधुघट को भरे तो कौन? हमारा यह भ्रम मात्र है अन्यथा थोड़े से अपवादों को छोड़ कर हममें भोग-दृष्टि है ही नहीं, यही हमारा दुर्भाग्य रहा है, हमने त्याग का दर्शन तो विकसित किया, परंतु साथ ही अपेक्षित स्वस्थ भोग का दर्शन हम विकसित नहीं कर पाये, क्योंकि हम कहीं से रुग्ण थे। यदि हम स्वस्थ भोग का दर्शन और उसकी दृष्टि विकसित कर पाते तो आज हर छोटी-मोटी जरूरत की चीज़ों के लिए हमें छोटे-छोटे देशों का मुखापेक्षी नहीं होना पड़ता। हकीक़त यही है कि हमारे पास भोगवादी दृष्टि नहीं है, जो थोड़े से लोग ऐसे दीखते भी हैं वे तथाकथित आधुनिकता से आतंकित मुखौटा लगाये हुए हैं। 'नक़ाब पहन नकली जीना नहीं आता, असलियत खुद बड़ी सच्चाई है।' तो असलियत यही है कि भोग का स्वस्थ दृष्टिकोण हमारे पास है ही नहीं। इसका कारण भी महेंद्र प्रताप जी ने बतलाया है।

इन कविताओं में कवि की दृष्टि बहुत साफ़ है, व्यक्त मंतव्यों से सहमति और असहमति एक दूसरा प्रश्न है, किंतु इन कविताओं में भटकाव-उलझाव, अधूरे-धुँधले बिंब कहीं नहीं मिलते। व्यर्थ के शब्द-जाल के प्रति भी कवि का अतिरिक्त मोह कहीं नहीं दीखता। हम भविष्य में महेंद्र प्रताप जी से और अच्छे संकलन की आशा रखते हैं।

—उमाकांत मालवीय,
२३, महावीरन लेन, इलाहाबाद—३।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचारात्मक क्षेत्र का प्रतिनिधि

हिन्दी प्रचार-प्रसार का एक नया चरण

राष्ट्रभाषा सन्देश

[पाक्षिक]

सम्पादक : रामप्रताप त्रिपाठी – सहसम्पादक : ब्रजभूषण पाण्डेय

हिन्दी भाषा और साहित्य तथा हिन्दी प्रचारिणी संस्थाओं एवं सरकारी तथा सार्वजनिक क्षेत्र से संबद्ध सूचनाएँ, मन्तव्य, योजनाएँ, रचनात्मक प्रक्रिया का एकमात्र सन्देश है––

राष्ट्रभाषा सन्देश

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उद्देश्यों का पूरक प्रेरक पाक्षिक प्रकाशन प्रथम अंक से ही जिसकी ५००० प्रतियाँ प्रकाशित होती हैं। मूल्य २० पैसा, वार्षिक ५.०० रु०।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सम्पूर्ण पाँचों
खण्ड प्रकाशित
आकार
डिमाई चार पेजी

शब्द संख्या

पहला खण्ड – २१,९४८
दूसरा खण्ड – २१,१२७
तीसरा खण्ड – २३,६५३
चौथा खण्ड – २१,०८२
पाँचवाँ खण्ड – २५,३९६

पृष्ठ संख्या

पहला खण्ड – ६१८
दूसरा खण्ड – ५९९
तीसरा खण्ड – ६७०
चौथा खण्ड – ६०६
पाँचवाँ खण्ड – ६८४

•

प्रति खण्ड का मूल्य पचीस रुपये
केवल शिक्षण-संस्थाओं के लिए
एक साथ पाँचों खण्डों का एक सौ रुपये

•

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

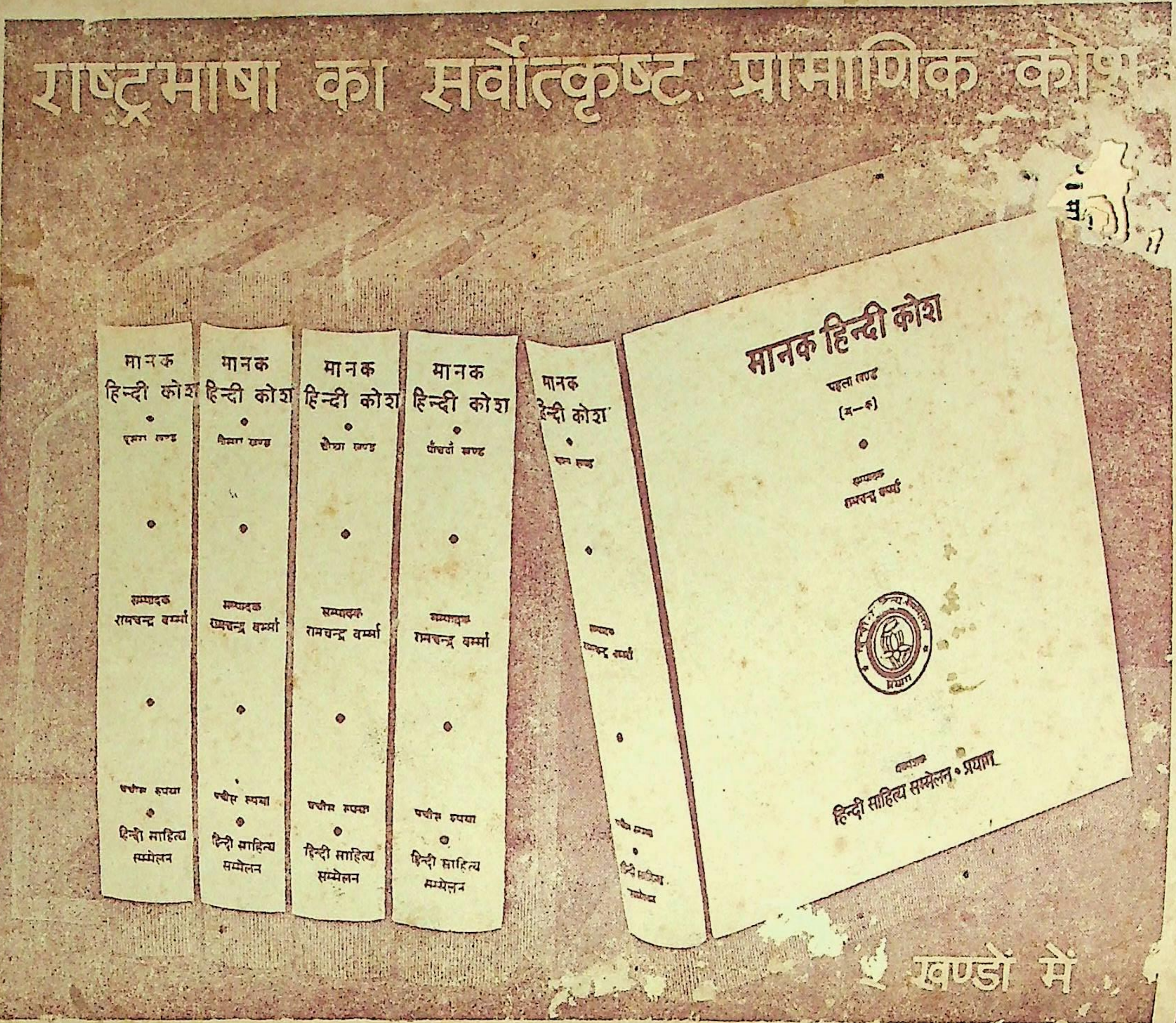

रजिस्टर्ड नं० एल० २११७